

श्रीमद् भगवद्गीता  
की आध्यात्मिक साधनाएँ

श्री स्वामी शान्तानन्द पुरी



# श्रीमद् भगवद्गीता की आध्यात्मिक साधनाएँ

श्री स्वामी शांतानन्द पुरी

पार्वतम्मा सी. पी. सुब्बराजु सेट्टी चारिटेबल ट्रस्ट

13/8, पी. एम. के. रोड, बेंगलूर - 560 004.

फ़ोन : 6523011

ई-मैल : [omkar@blr.vsnl.net.in](mailto:omkar@blr.vsnl.net.in)

## श्रीमद् भगवद्गीता की आध्यात्मिक साधनाएँ

मूल लेखक : श्री स्वामी शान्तानन्द पुरी

अनुवाद : डा. सरोज कुमार त्रिपाठी  
श्री स्वामी शान्तानन्द पुरी

प्रकाशक : पार्वतम्मा सी.पी. सुब्बराजु सेट्टी चारिटेबल ट्रस्ट  
13/8, पी.एम.के. रोड, बेंगलूर - 560 004.

पुस्तक मिलने की पता : 1. प्रकाशक  
2. VAK - The Spiritual Book Shop  
श्री अरबिंदो आश्रम, पांडिचेरी - 2

प्रथम मुद्रण (हिन्दी) : फरवरी 2001

मुख पुट : श्री सी.एस. कृष्ण सेट्टी

टाईप सेटिंग व मुद्रण : ओंकार आफ़सेट प्रिंटेर्स  
1 मैन रोड, न्यू तरगु पेट  
बेंगलूर - 560 002

दूरवाणी : 6708186, 6709026

ई-मैल : omkar@blr.vsnl.net.in

वेब सैट : www.omkarprinters.com

## समर्पण

इस पुस्तक का समर्पण  
मैं

परम आदरपूर्वक

अपने परम पूजनीय गुरु

स्वामी पुरुषोत्तमानंदजी महाराज  
वशिष्ठ गुहा, उत्तरप्रदेश (हिमालय)

के

चरणारविंदों में

तथा

पूरे विश्व में फैले हुए उन

समस्त आध्यात्मिक साधकों के प्रति

करता हूँ

जिन्होंने मुझे इसे लिखने की

प्रेरणा प्रदान की है।

स्वामी शान्तानन्द पुरी



## प्रकाशक की टिप्पणी

स्वामी शान्तानन्द पुरी महाराज की यह पुस्तक “भगवद्गीता की आध्यात्मिक साधनायें” अभ्यास के लिये सुगम मार्ग दर्शिका है और यह आप का पूर्ववर्ती पुस्तक “श्रीमद्भागवत-आधुनिक मानव के लिये इसका संदेश” का एक सच्चा सहयोगिनी है।

इस प्रस्तुत पुस्तक अपने आन्तरिक मूलस्रोत के अन्वेषण में साधकों को सहायता देनेवाला है। इसका लक्ष्य सच्चे सत्यान्वेषणतत्पर साधकों को आत्मसाक्षात्कार के उस अलौकिक अनुभव में पहुँचाना है जहाँ किताबी-शिक्षा की जगह अनुभव की मुख्यता होती है और ज्ञान की जगह हृदय के संवेदनात्मक अनुभव की मुख्यता होती है।

हमारी प्रार्थना के फलस्वरूप ही परमपूज्य स्वामीजी ने समस्त साधकों के लिये उपयोगी, प्रभावशाली एक मार्गदर्शिका प्रदान की है। इस पुस्तक के रूप में उनके वर प्रसाद के लिये हम आभारी हैं और उनको हमारे शत शत प्रणाम स्वीकार हो।

श्री सरोजकुमार त्रिपाठीजी (नई दिल्ली) एक ख्यात लेखक है। इन्होंने अपने अमूल्य समय के व्यय की परवाह न करते हुए इस पुस्तक (9 अध्याय) का अनुवाद उत्तमोत्तम, आकर्षक सरल और साहित्यिक हिन्दी में किये हैं। उन्हें हम हार्दिक कृतज्ञता निवेदन करते हैं।

इस पुस्तक का सम्यक निरीक्षण करके अपने गंभीर विचार करने के लिये विद्यालंकार शास्त्रचूडामणि संगीतकलारत्न प्रोफेसर एस.के. रामचन्द्र राव जी के प्रति हमारी अपार कृतज्ञता निवेदनीय है।

व्यावहारिक दार्शनिक एवं एक उच्चकोटि के आध्यात्मिक साधक श्री जे पद्मनाभ अय्यरजी, विद्वान तथा वेदान्ती श्री नागमुन्दरमजी, वकील व नोदरी श्री सी.आर. जयचन्द्र सेट्टीजी और निवृत्त अकॉउंटेंट जनरल श्री डी. एन. आनन्दजी के भी हम ऋणी हैं जिन्होंने इस प्रकाशन की हर स्तर पर हमें मार्गदर्शन देते आये हैं।

हम श्री पि.एस. वेंकटेशाबाबु, ओंकार आफसेट प्रिंटर्स, को खूब आभारी हैं। इनके अथक परिश्रम स्वरूप ही ऐसे सुन्दर तथा आकर्षक रूप में इस पुस्तक का प्रकाशन संभव हुआ है।

## आमुख

भगवद्गीता की भाँति कदाचित् ही कोई अन्य धार्मिक या दार्शनिक ग्रंथ होगा, जिसकी पुराने तथा आधुनिक सहस्रों आचार्यों, व्याख्याताओं, विद्वानों और पंडितों द्वारा इतनी चित्तविभ्रमकारक, सही-गलत, उत्तम तथा मनमानी व्याख्याएँ की गईं, इतनी टीकाएँ लिखी गईं और प्रवचन किए गये हैं। इस पुस्तक का लेखक एक साधारण संन्यासी है, जिसकी विद्वत्ता का या किसी आध्यात्मिक ऊँचाई का कोई दावा नहीं। अत्यंत संकोच के साथ लेखक ने गीता में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उपदिष्ट उन आध्यात्मिक साधनाओं को रेखांकित करने का प्रयास किया है जो अपने गुरु के जीवन से तथा कुछ अपने अध्ययन और अपनी साधना (तपश्चर्या) से अर्जित अनुभवों तथा तत्त्वों का परिणामस्वरूप है। ये सभी साधनाएँ आध्यात्मिक विकास के सभी स्तरों में उपयुक्त हैं - एल.के.जी. कक्षा से पीएच.डी. तक। दो या तीन स्थलों को छोड़कर लेखक सभी विवादास्पद मुद्दों एवं सांप्रदायिक व्याख्याओं से बचकर चला है।

श्रीमद् भगवद्गीता का (मोटे तौर पर) अर्थ है : ‘भगवान के द्वारा गाया गया गीत’। अपनी ही रचना को स्वयं ही गाने के उदाहरण कम ही मिलते हैं। गीतामाहात्म्य में कहा गया है ‘गीता मे हृदयं पार्थ’ अर्थात् गीता भगवान का हृदय है। गीता में भगवान श्री कृष्ण ने अपना हृदय उड़ेल दिया है और गीता रूपी अपना हृदय अर्जुन को दे दिया है। पूरी गीता दो सखाओं के हृदयों का परस्पर संवाद है।

“संवादमिम मश्रौषं अद्भुतं रोमहर्षणम् ।”

गीतातत्त्वों का साक्षात्कार तभी किया जा सकता है, जब कोई अपना हृदय उसे अर्पित कर दें। मात्र बुद्धि या विद्वत्ता के बल पर इसे नहीं पाया जा सकता। पूरी गीता जो भगवान के हृदय प्रदेश में सतत निनादित हो रही थी, वह उनके श्रीमुख के खोलते ही सहज रूप में अनायास ही प्रकट हो गई।

“या स्वयं पदानाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता” ।

यदि हम गीता को समझना चाहते हैं तो भगवान श्री कृष्ण से मैत्री या सख्यभाव स्थापित करना भी आवश्यक है। अंततः स्वयं भगवान श्रीकृष्ण के साथ हमें तादात्म्य स्थापित कर लेना होगा। आप उनसे अपने को पृथक् रखकर गीता समझने का दावा



नहीं कर सकते । गीता के आरंभ के ठीक पहले श्री कृष्ण संजय के माध्यम से धृतराष्ट्र को इस प्रकार संदेश भेजते हैं :

‘कृष्णो धनंजयस्यात्मा कृष्णस्यात्मा धनंजयः’

अर्थात् श्री कृष्ण अर्जुन की आत्मा हैं और अर्जुन श्री कृष्ण की आत्मा है । चूंकि गीता भगवान की ही परमा शक्ति है, अतः इसकी शरण में आदरपूर्वक ऐसे भाव के साथ जाना चाहिए कि यह साक्षात् जगज्जननी देवी है जो हमारे संसार के उच्छेद के लिये इस रूप में अवतरित हुई है ।

“अम्ब त्वामनुसंधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम् ।”

इस पुस्तिका में उद्धृत कतिपय श्लोकों में से किसी एक को भी आधार (केंद्र) बनाकर घंटों ध्यान किया जाए तो इसके अनंत लाभ दृष्टिगोचर होंगे । यहाँ विविध रुचिवाले साधकों के लिए उपयोगी विभिन्न प्रकार की साधनाएँ हैं, साधक चाहे जिस पथ का भी अनुयायी हो । ऐसे लोग, जिनका किसी प्रकार की साधना से कुछ लेना-देना नहीं और जो भगवान या मोक्ष की परवाह किए बिना मात्र सरल, आनन्दपूर्ण और सुचारु जीवन जीना चाहते हैं, उनके लिये भी यहाँ शांति के कैस्प्यूल्स(गोलियाँ) या प्रसन्नता के सूत्र विद्यमान हैं, जो उनके तनावों, चिंताओं, मानसिक अवसाद, दुःखों और संकटों का निवारण करने में बड़े उपयोगी साबित होंगे और परिणामस्वरूप ऐसे लोग भी वास्तविक आनन्द की किंचित् झलक देख सकेंगे। यह आवश्यक नहीं कि गीता में विहित सभी साधनाएँ हर व्यक्ति करे । इनमें से जो आपको जँचे, जो अपने अनुकूल लगे उसे दृढ़तापूर्वक अपना लें और परम प्रोज्वल अंतिम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अपनी तीव्र आकांक्षा की आग को प्रज्वलित कर लें । शेष सबकुछ स्वयं हो जाएगा । भगवान की कृपा की दुर्निवार गुरुत्वआकर्षण शक्ति आपको स्वतः ही तीव्र वेग से लक्ष्य की ओर खींचकर ले जाएगी। यह पुस्तक भगवत्प्रेरणा से मुख्य रूप से ‘स्वान्तःसुखाय’ लिखी गई है । इससे यदि एक पाठक को भी लाभ मिले, तो इसे मैं अपने लिए बोनस (अतिरिक्त लाभ) समझूँगा ।

हरिः ओम्।

-स्वामी शान्तानन्द

## विषय-क्रम

अध्याय	पृष्ठ संख्या
प्रस्तावना .....	1
1. जीवन की सफलता तेरे हाथ .....	3
2. आप बल्ब नहीं, अविनाशी बिजली हैं .....	6
3. कर्म करें, पर अनासक्त होकर .....	15
4. कर्म में अकर्म .....	18
5. हर कर्म को दिव्य बना लें .....	23
6. ध्यान धरें और साक्षात्कार पावें .....	26
7. वही सब कुछ है .....	29
8. हे मृत्यु ! तुम्हारा डंक किधर है ? .....	32
9. भगवन ! मेरी सारी क्रियाएँ आपको समर्पित हो .....	35
10. हर सृष्टि में ढूँढो भगवान की महिमा .....	38
11. अहा ! कैसा विराट दृश्य ! .....	40
12. भगवन, मुझे आप ही चाहिये .....	43
13. आत्मा का लीलाक्षेत्र .....	47
14. त्रिविध आधार स्तंभ .....	53
15. मैं ही परमात्मा हूँ .....	56
16. देव बनाम शैतान .....	59
17. हाय, तुम श्रद्धारहित लोग .....	63
18. भगवन, मेरी डोरी तेरे हाथ .....	68

श्री महागणपतये नमः

श्री कृष्णाय नमः

## प्रस्तावना

श्रीमद् भगवद् गीता महर्षि व्यास प्रणीत बृहत् इतिहास महाभारत का एक अंश है। आध्यात्मिक शिक्षा के शास्त्रीय ग्रंथों में इस कृति का स्थान अग्रगण्य है। हमारे सनातन धर्म तथा भारतीय दर्शन की प्रस्थान त्रयी में से गीता एक है और इसे उपनिषद (आत्मज्ञान का प्रतिपादन करने वाले वैदिक वाङ्मय का एक अंग) का परम सार भी समझा जाता है।

पूरी दुनियाँ में मनुष्य जाति उत्कट संकटों की पराकाष्ठाओं से गुजर रही है। आज भी, जब सर्वत्र, चाहे व्यक्तिगत स्तर पर हो या सामूहिक राष्ट्रीय स्तर पर हो, भय, द्वेष, हिंसा, लोभ, ईर्ष्या एवं अन्य नकारत्मक प्रवृत्तियों का साम्राज्य है, श्री कृष्ण का यह दिव्य गीत अत्यंत प्रासंगिक है। कुछ विद्वानों द्वारा गीता को संकट काल का मार्गदर्शक पुस्तक (गाइड) कहा गया है, जो उपयुक्त ही है। यह मनःचिकित्सा की ऐसी पद्धति बताती है, जिसका अनुसरण कर मनुष्य जीवन में अधिक से अधिकतर सुख प्राप्त कर सकता है, दबाव-तनाव का निवारण कर सकता है और यथासमय आत्मज्ञान उपलब्ध कर सभी प्रकार के दुःखों और संकटों से सदा के लिए मुक्त होकर स्थायी रूप से परम आनंद में स्थित हो सकता है।

इस पुस्तिका का प्रयोजन गूढ़ दर्शन की तर्क परक, मीमांसा करना या गीता के सूक्ष्म से सूक्ष्म अर्थों का भाष्य करना नहीं है। इसके प्रयोजन सिर्फ दो हैं :

1. आधुनिक दुनिया में रहनेवाले सामान्य व्यक्ति को जिन तनाव और आंतरिक द्वंद्व के साथ दिन-प्रतिदिन संघर्ष करना पड़ता है उन परिस्थितियों का कुशलतापूर्वक सामना करने की क्षमता प्रदान करना।

2. सभी स्तर के साधकों (नए साधकों से लेकर उच्च स्तर के अनुभवी साधक तक) को ईश्वर-अनुभूति का मार्गदर्शन करना, जिससे कि उनको सदा-सर्वदा के लिए निरतिशय आनंद प्राप्त हो सके। इस पुस्तिका के प्रत्येक अध्याय में, साधकों द्वारा अपनाने योग्य, निहित, विभिन्न आध्यात्मिक साधनाओं पर प्रकाश डाला गया है।

## अध्याय-1

### जीवन की सफलता तेरे हाथ

युद्धभूमि में अर्जुन जब युद्ध के लिए सन्नद्ध था लेकिन अपने ही चचेरे भाइयों को (कौरवों को) सम्मुख देखकर युद्ध के औचित्य एवं अनौचित्य के विषय में किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहा था, उस समय मार्गदर्शन प्रदान करने के लिए गीता सहज रूप से भगवान की वाणी से प्रस्फुटित हुई। दोनों पक्षों की ओर से मरने-मारने को सन्नद्ध अपने सभी सगे-संबंधियों, मित्रों, गुरुओं एवं अन्य के समक्ष जब अर्जुन अपने को पाता है तो उसे आघात लगता है और उसमें यह छद्म नैतिकता जागती है कि वह विनाशकारी परिणामों वाले पापपूर्ण कृत्य में प्रवृत्त होने जा रहा है। वस्तुतः स्वजनों के प्रति अपनी गहरी आसक्ति के कारण उसने अपना विवेक खो दिया और वह अपना कर्तव्य भूल गया। यदि युद्ध में संलग्न लोग उसके सगे-संबंधी न होते तो अपने शत्रुओं के साथ संघर्ष में एवं उनकी हत्या में अर्जुन को कोई दुविधा नहीं होती।

अर्जुन की यह वेदना ही गीता जैसी गंभीर आध्यात्मिक कृति की पृष्ठभूमि बनी। देश, जाति, नस्ल या मजहब से परे गीता एक ऐसी कृति है जो सब के लिए हर समय व्यवहार-गम्य है।

इस ऐतिहासिक युद्ध की पृष्ठभूमि प्रतीकात्मक है। कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि हमारी मनोकायिक (शरीर एवं मन की) संरचना का प्रतीक करती है जो वस्तुतः कर्म (कुरु अर्थात् करो) का क्षेत्र है। अर्जुन समेत पांडव जहाँ हममें निहित दिव्य संस्कारों का प्रतिनिधित्व करते हैं वहीं कौरव हमारी आसुरी वृत्तियों का। हमारे भीतर चल रहे सत्-असत् वासनाओं के संघर्ष ही हमारे कर्मों को निर्धारित करते हैं। यही महाभारत का युद्ध है जो हर व्यक्ति के मन में चलता रहता है। कौरवों का पिता और नेत्रहीन राजा धृतराष्ट्र अपने नाम के अनुरूप (धृतम् राष्ट्रम् येन सः) ही न केवल अपने सांसारिक



सम्राज्य से बल्कि अपने शरीर के साम्राज्य से भी बुरी तरह आसक्त है। आसक्ति ने स्वाभाविक रूप से उसे न्याय-अन्याय के प्रति अंधा बना दिया है और साम्राज्य में से पांडवों का उचित हक देने से वह इनकार कर देता है।

अप्रतिम योद्धा और अद्भुत पराक्रमी अर्जुन स्वजनों के प्रति गहरी आसक्ति के कारण हतप्रभ और शिथिल है, इसी दृश्य से भगवद्गीता का प्रारंभ होता है। आसक्ति ही मनुष्य को मोहग्रस्त करती है और यह मोह उचित और अनुचित का निर्णय करने वाली दृष्टि पर आवरण डाल देता है। कोई भी कृत्य अपने-आप में न सही है और न गलत, और न ही किसी भी कृत्य में यह क्षमता है कि वह मनुष्य को आवद्ध कर दुःखों और विपत्तियों का कारण बन जाए। वस्तुतः कर्म एवं उसके परिणामों के प्रति आसक्ति के कारण ही मोह उत्पन्न होता है और इस मोह का प्रभाव भयावह होता है। गीता का यह एक मुख्य संदेश है।

इस जीवन की सभी समस्याओं का समाधान मनुष्य के भीतर ही निहित है। सभी समस्याओं के समाधान स्वयं ईश्वर हैं जो शाश्वत पथप्रदर्शक बनकर हृदय में दिव्य स्फुलिंग-सद्गुरु के रूप में अवस्थित हैं। उनकी गीता सदा प्रवाहित है और जिसके भीतर भी इसे सुनने की क्षमता है वह उस गीता को सुन सकता है। युद्धभूमि में अर्जुन जब शोक और विषाद से पूरी तरह ग्रस्त था, उसमें निहित दिव्य प्रेरणा ने (थर्मोस्टेट ने) उसे भगवान के श्री चरणों में समर्पित हो जाने एवं उन्हीं से परित्राण और सांत्वना प्राप्त करने के लिए विवश करा दिया। इस प्रकार वह शोक और विषाद भी योग अर्थात् आध्यात्मिकता का एक मार्ग बन गया। यह विषाद अर्जुन एवं भावी पीढ़ियों के लिए भगवद्गीता (जिसे परम सत्ता का हृद्स्पंदन कहा जा सकता है) के दिव्य प्राकट्य का हेतु बना। इस प्रकार गीता के प्रथम अध्याय को विषाद योग (दुःख के द्वारा परमात्मा को पाने का एक मार्ग) कहा जाना सर्वथा उपयुक्त है।

अठारह अध्यायों वाली संपूर्ण भगवद्गीता 6-6 अध्यायों वाले तीन खंडों में विभक्त की जा सकती है। ये तीन खंड वेद के प्रथित महावाक्यों में एक “तत् त्वं असि” (तुम वही हो) का ही व्याख्यान हैं। लेकिन तत् त्वम् असि के क्रम में तत् शब्द की व्याख्या साधारण साधकों के लिए मुश्किल होगी क्योंकि तत् (ईश्वर) एक अज्ञात तथ्य है (अतः गीता इस स्थिति का निष्पादन व्यावहारिक रूप से करती है और सर्वप्रथम ‘त्वं’ अर्थात् स्वयं साधक से आरंभ करती है)।

प्रारंभ के 6 अध्याय व्यक्ति (त्वम्) की पूर्णता किस प्रकार प्राप्त हो, उसके लिए उपयुक्त साधनाओं का विवेचन करते हैं। इसके बाद के 6 अध्याय परम सत्ता (तत्) की महिमा एवं उनके विश्वरूप का वर्णन करते हैं। यह भगवान को सारे विश्व के रूप में दर्शन करने का योग है। अंत के 6 अध्याय परम सत्ता विश्वरूप (तत्) के साथ साधक (त्वम्) के सही तादात्म्य के लिए उपयुक्त मार्ग, युक्ति, तकनीक एवं अनुशासन का विवेचन करते हैं। यह समीकरण ही ‘असि’— अर्थात् सही तादात्म्य का योग है।

## आप बल्ब नहीं, अविनाशी विजली हैं

इस अध्याय के दूसरे श्लोक से भगवान का उद्बोधन प्रारंभ होता है। देह से देही (आत्मा) या चेतना का अंतर कर वे हमारे अज्ञान के मूल का उच्छेदन करते हुए इस उद्बोधन का आरंभ करते हैं। सभी साधनाओं में यह मूल मान्यता होती है कि 'मैं हूँ' और यही मान्यता इस दुनिया (जगत्) के समस्त दुःख-दर्दों का कारण है। एक कमरे में लगा ज़ीरो वाट का बल्ब दुःखी है और दैन्य से ग्रस्त है कि मैं एक नीच-नाचीज़ बल्ब के रूप में पैदा हुआ, जबकि 60 वाट, 200 वाट, 1000 वाट के बल्ब अधिक आकर्षक, अधिक लोकप्रिय और अत्यंत तेजोद्दीप्त हैं। ज़ीरो वाट का बल्ब इस बात से बेखबर है कि एक ही स्रोत का वही विद्युत मुझमें भी प्रज्वलित है जो 60 वाट, 200 वाट और 1000 वाट के बल्ब में भी प्रज्वलित है। उसे जिस दिन उस बात की प्रतीति हो जाएगी कि वह अपनी सीमाओं से युक्त कोई हीन-दीन बल्ब नहीं, बल्कि अनंत वाट वाला परम प्रकाश युक्त विद्युत है, वह अपने दुःखों से मुक्त हो जाएगा और आत्म-साक्षात्कार कर लेगा। बल्ब के जन्म यानी निर्माण की एक तारीख होती है और एक दिन इसे टूट कर बिखर जाना है और मिट जाना है; लेकिन इस बल्ब को जलाने वाला विद्युत न कभी जन्मा था और न कभी मरेगा। बल्ब टूट कर भले टुकड़े-टुकड़े हो जाए, विद्युत को कोई क्षति नहीं पहुँचती। यह वही विद्युत है जो सभी बल्बों में प्रवाहित होता है और उन्हें उद्दीप्त रखता है। यदि बल्ब फ्यूज़ हो जाता है, हम स्वाभाविक रूप से इसे फेंक देते हैं और उसकी जगह उसी वाट का या अधिक वाट का दूसरा बल्ब लगा देते हैं। चाहें तो इसे पुनर्जन्म कह सकते हैं। पुनर्जन्म किसका हुआ? मृत्यु ऐसा अवसर मात्र है जब पुराने वस्त्रों का परित्याग कर दिया जाता है और नया परिधान धारण किया जाता है। देही (आत्मा) या आत्मतत्त्व तो बना रहता है, वह यथावत् बना रहता है।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय  
नवानि गृण्हाति नरोऽपराणि।  
तथा शरीराणि विहाय जीर्णानि  
अन्यानि संयाति नवानि देही ॥

(2-22)

इसका न तो कभी जन्म हुआ था और न ही यह कभी मरने वाला है। इसे न तो शस्त्रों से काटा जा सकता है, न अग्नि से जलाया जा सकता है और न ही इसे वायु या जल से प्रभावित किया जा सकता है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।  
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥

(2-23)

चाहे कोई इंजिनियर हो या डॉक्टर हो या क्लर्क हो सभी नाम-रूपों में वही एक आत्मतत्त्व या ईश्वर विद्यमान है और वही आत्मतत्त्व उनकी उम्र, जाति, योग्यता या उनके नस्ल, देश और चरित्र संबंधी भेदों को नजरअंदाज करते हुए उन्हें क्रियाशील रखता है। ऐसी स्थिति में आपका कौन शत्रु है और कौन मित्र है?

एक मुख्य साधना यह है कि हम उपर्युक्त तथ्य का अनवरत चिंतन करते रहें और बार-बार यह दुहराते रहें कि "मैं वह देह नहीं हूँ जो परिवर्तनधर्मा है और जो वार्धक्य और मृत्यु को प्राप्त होने वाली है। मैं आत्मा हूँ, पूर्ण चैतन्य हूँ"। इस प्रकार के चिंतन को बनाए रखने के लिए "निर्वाण षट्कम्" नामक आचार्य शंकर के स्तोत्र अद्भुत है। उस स्तोत्र का प्रारंभ इस प्रकार है:

मनो बुद्ध्यहंकार चित्तानि नाहं  
न च श्रोत्र जिह्वे न च घ्राण नेत्रे  
न च व्योम भूमिः न तेजो न वायुः  
चिदानंद रूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ।

(मैं न मन हूँ, न बुद्धि हूँ, न अहंकार हूँ, न चित्त हूँ, मैं न श्रोत्र (कान) हूँ, न जिह्वा हूँ, न नासा हूँ, न नेत्र हूँ, मैं न आकाश हूँ, न पृथ्वी हूँ, न अग्नि हूँ और न वायु हूँ, मैं तो परम चेतन और आनंद रूप शिव हूँ, शिव हूँ ।)



जन्म से मृत्यु तक मानव देह में अनेक परिवर्तन घटित होते हैं। वह बालावस्था से किशोरावस्था में, किशोरावस्था से प्रौढ़ावस्था में और तत्पश्चात् वार्धक्य की अवस्था में पहुँचता है। कुछ कुछ वर्षों के अंतराल से मनुष्य की देह में पूर्ण परिवर्तन हो जाता है, कभी-कभी तो इस परिवर्तन के कारण उक्त मनुष्य को पहचान पाना भी मुश्किल होता है। देह की सभी कोशिकाएँ (सेल), उत्तक (टिश्यू), त्वचा आदि बार-बार बदलते जाते हैं और नए होते जाते हैं। यथावत् कुछ भी नहीं रहता। तब भी व्यक्ति का नाम वही बना रहता है। वह प्रारंभ से ही श्री 'क', श्री 'ख' नाम से पुकारे जाने पर हमेशा उस नाम को अपना ही जानता आया है। देह और मन के इस समुच्चय में जब अनेकानेक रूपांतर घटित हो गए तो वह क्या है जो सदा अपरिवर्तनशील रहा है? यह केवल 'अहं' का विचार या 'अहं' की चेतना है जो वर्षों के अंतराल के बावजूद बदलती नहीं और वह व्यक्ति श्री 'क' श्री ख बना रहता है। यह ध्यान रखने की बात है कि, श्री 'क' का यह अहं चिन्तन पृथक् या अनोखा नहीं है, बल्कि यह वही चेतना है जो श्री 'ख' या श्री 'ग' आदि की देह में भी विद्यमान है।

जब तक व्यक्ति को इस बात की प्रतीति नहीं हो जाती कि वह देह नहीं अपितु आत्मा है जिसे अपने अस्तित्व का स्वयं ज्ञान है (क्योंकि चेतना अपने आप में सत् अर्थात् अस्तित्व तथा चित् अर्थात् ज्ञान भी है) तथा जो सभी प्राणियों के शरीर में निवास करनेवाली अविभक्त चेतना है, तब तक उस व्यक्ति का पुनः पुनः जन्म-मृत्यु का चक्र बना रहेगा और यही चक्र सभी दुःख-दर्दों का कारणभूत है।

अनंत शक्ति संपन्न, असीम संभावनाओं से परिपूर्ण यह अविनाशी चेतना सभी जीवों में विद्यमान है और साथ ही उनसे परे भी है (एक ही साथ सर्वव्यापी भी है और लोकोत्तर भी)। इसे ही आत्मा या भगवान कहते हैं। जब कोई व्यक्ति सीमाबद्ध, क्षण-भङ्गुर, जड़ और अवास्तविक शरीर के साथ तादात्म्य भाव से जुड़ी अपनी चेतना को पृथक् कर सर्वव्यापक तथा अनंत परमात्मा अर्थात् भगवान के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है तब वह सभी दुःख-दर्दों से मुक्त होकर स्वयं परम आनंद रूप बन जाता है। यही अवस्था मुक्ति या मोक्ष है और इसे ही आत्मसाक्षात्कार या ईश्वरसाक्षात्कार कहते हैं। अज्ञान (जो सब जीवों को मोह में फँसानेवाली ईश्वर की मायाशक्ति का परिणाम है) के कारण मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है और सीमा-बद्ध लघु शरीर में अपने को सीमित कर जीव बन जाता है। ज्यों ही मनुष्य इस वास्तविकता

के प्रति सजग होता है त्योंही परमात्मा या ईश्वर के समक्ष अपने अहं ('मैं' की भावना) का समर्पण कर अपने सत्यस्वरूप को पहचान लेता है, जीते जी वह मुक्त (जीवनमुक्त) हो जाता है (मरने के बाद नहीं)। समभाव में प्रतिष्ठित तथा भगवान के सतत सान्निध्य में स्थित ऐसा व्यक्ति स्थितप्रज्ञ अर्थात् पूर्ण मनुष्य बन जाता है।

उपर्युक्त बातों की चर्चा का प्रयोजन बौद्धिक विलास के लिए, मात्र किसी दार्शनिक सिद्धांत को प्रस्तुत करना नहीं है। इन्हें बार-बार पढ़ने की आवश्यकता है और इनका अनवरत मनन और चिंतन करने की आवश्यकता है। निम्नलिखित मंत्र का अनवरत ध्यान करने मात्र से हम मुक्ति को प्राप्त कर सकते हैं।

“मैं देह नहीं हूँ, मैं आत्मा हूँ, मैं परम आनंद रूप हूँ, मैं सच्चिदानंद हूँ।”

उस अवस्था को प्राप्त करने के लिए एक अनिवार्य साधना है तितिक्षा अर्थात् सुख-दुःख, गर्मी-सर्दी, निंदा-स्तुति एवं अन्य दूसरे प्रकार के द्वंद्वों से प्रभावित न होना अर्थात् उनमें एकरस बने रहना। इस अध्याय के शेष भाग में एवं अन्य अध्यायों में भी, विभिन्न क्षमता, रुचि और प्रकृतिवाले साधकों के अनुरूप विभिन्न प्रकार की साधनाओं का विवेचन किया गया है।

साधानाओं के प्रारंभ काल में हमारे शास्त्र निःसंदेह यही आदेश देते हैं कि कथित रूप से अच्छे कार्य करना चाहिए और बुरे कार्यों से बचना चाहिए। अच्छे कार्यों के परिणामस्वरूप हमें पुण्य प्राप्त होता है जिससे हमें भोगों का सुख मिलता है और बुरे कार्य पाप में परिणत हो जाते हैं जो हमें दुःख प्रदान करते हैं। यदि दीर्घ काल तक यह प्रक्रिया चलती रहे तो यह क्रम हमें बार बार हमारे पाप-पुण्यों के फलस्वरूप जन्म-मरण के अनंत चक्रों में पुनः पुनः ले जाता है। इसलिए गीता मनुष्य को अपने कर्तव्य के निर्वाह का उपदेश देती है। ये कर्तव्य मनुष्य के जन्म, पर्यावरण, जीवन की स्थिति एवं अन्य परिस्थितियों के द्वारा स्वाभाविक रूप से निर्धारित होते हैं परन्तु निम्नवर्णित एक विशेष प्रकार से उनको करना पड़ेगा। ऐसे कर्तव्यों को स्वधर्म कहते हैं। सभी क्रियायों की जिनमें स्वधर्म भी शामिल है, प्रतिक्रिया होती है। यह प्रतिक्रिया अच्छे कार्यों के लिए अगले जन्म में पुरस्कार के रूप में तथा बुरे कार्यों के लिए दंड (दुःख-तकलीफ) के रूप में प्रतिफलित होती है। इस क्रम में मनुष्य को इन पुरस्कार या दण्ड भोगने के लिए पुनः पुनः जन्म लेना पड़ता है और शरीर धारण करना पड़ता है। इस प्रकार



हमारे सभी कार्य उस घटना-बहुल संसार से हमें बाँधते हैं; क्योंकि कार्यों के प्रतिक्रियारूप फल अगले जन्मों में प्रारब्ध के नाम से प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार अच्छे तथा बुरे दोनों ही कर्म हमें इस दुःख-दैन्य भरे संसार से बाँधते हैं। इस स्थिति का निराकरण सिर्फ तभी हो सकता है जब हम अपने कार्यों के परिणाम की चिंता करना बंद कर दें तथा सफलता-विफलता, जय-पराजय या लाभ-हानि (के युग्म में से प्रत्येक) को समान भाव से स्वीकार करें। इसके अतिरिक्त दुःख-सुख जैसे द्वंदों (विपरीतताओं के युग्म) के प्रति प्रतिक्रिया व्यक्त किए बिना हमें सहिष्णुता और तितिक्षा बरतनी चाहिए। ऐसी मनोभावना अपनानी चाहिये कि ये सब सुख-दुःख आदि के अनुभव चिरस्थायी नहीं हैं; ये आँख, जिह्वा आदि इन्द्रियों के विषयों के साथ संपर्क से उत्पन्न होते हैं और यथासमय लुप्त हो जाते हैं। जब तक हम अपने भौतिक सुखों के लिए स्वार्थपूर्ण कार्यों में निरत रहेंगे (चाहे वे वैदिक कर्मकांड ही क्यों न हों) और अपने जीवन का सार-सर्वस्व एवं अंतिम लक्ष्य सांसारिक भोग-विलास (सुख-विलास) को मानते रहेंगे तथा जब तक अधिकार लिप्सा बनी रहेगी, हमारा मन शांत नहीं हो सकता; यह हताशा, निराशा और अवसाद के धपेड़े झेलता ही रहेगा। अनेक आध्यात्मिक साधक शिकायत करते हैं कि जब वे ध्यान के लिए बैठते हैं तो उनका मन अशांत ही बना रहता है, उसमें अनेक विचार भरे होते हैं और वह (मन) जप नहीं कर पाता या ईश्वर का अनवरत चिंतन नहीं कर पाता। जब तक हम सांसारिक सुख, संपत्ति और शक्ति (अधिकार) आदि से संबंधित इच्छाओं (वासनाओं) के दास बने रहेंगे हमारा मन ईश्वर पर एकाग्र नहीं हो सकता, न ही किसी प्रकार के ध्यान में स्थित हो सकता है।

**भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।**

**व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ (2-44)**

इच्छाएँ कैसे उत्पन्न होती हैं? ये पिछले जन्मों में किये हुए सत्कर्म तथा दुष्कर्मों के परिणाम हैं। इन्हें ही वासना कहते हैं। पिछले कर्मों की यह छाप जिसे वासना कही जाती है, कम्प्यूटर मेमोरी की भांति चित्त में छपी रहती है और अगले जन्मों में इच्छाओं को प्रेरित करती है। दृढ़ संकल्प के द्वारा और प्रार्थना के माध्यम से ईश्वरीय सहायता की याचना को तीव्रतर कर, ये वासनाएँ शमित की जा सकती हैं। वासना कोई

ऐसी नियति नहीं है, जिससे बचा न जा सके या जिसका निवारण न किया जा सके। पूर्व जन्म के कर्मों की जो अपरिहार्य प्रतिक्रिया है उसे प्रारब्ध कहते हैं। ये प्रारब्ध जीवन में अच्छी या बुरी घटनाओं के रूप में व्यक्त होते हैं। सामान्यतया ये अवश्यंभावी होते हैं और इनका निवारण नहीं किया जा सकता। वासना जो हमारे पूर्व कर्मों (अच्छे या बुरे) की परिणति है, प्रवृत्तियों (सद् या असद्) का रूप ले लेती है और ज़बरदस्त सलाहकार के रूप में हमारी इच्छाओं को परिचालित करती है, जिसके परिणामस्वरूप पुनः वैसे ही नए-नए कर्म होते रहते हैं, जो अंततोगत्वा हमें भावी जन्म की नियति से बाँध देते हैं। अपने मनोबल के प्रयोग एवं अन्य साधनों के द्वारा इस नियति से बचा जा सकता है। गीता के प्रारंभ में ही जिस मुख्य साधना का प्रतिपादन हुआ है, वह इस प्रकार है:

सभी कर्म करो लेकिन उसके फल के प्रति पूर्ण उदासीनता (निःसंगता) का भाव रखो। आसक्ति न तो कर्मों के प्रति रखो और न ही फल के प्रति। ऐसे कर्म तुम्हें बाँध नहीं पाएँगे। अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के कर्म से ही तुम ऊपर उठ जाओगे फिर तुम्हें कोई पाप नहीं लगेगा।

इसका यह कतई मतलब नहीं कि अपने सभी कर्मों का परित्याग करके चुपचाप बैठ जाना चाहिए। मनुष्य को कभी निष्क्रिय नहीं बनना चाहिए और अपने वर्णाश्रम आदि के कारण स्वाभाविक रूप से जो भी कर्म हो, उनसे बचने का प्रयास नहीं करना चाहिए।

**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।**

**मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ (2-47)**

चित्त शुद्धि के लिए और आध्यात्मिक प्रगति के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य अपने नैसर्गिक कर्तव्य कर्म का निर्वाह करे। लेकिन यह कर्म करते समय इस विशेष तकनीक का प्रयोग करें। कर्म के फल (सफलता या विफलता) के प्रति आसक्ति से मुक्त रहकर और कर्म से प्राप्त होने वाली उपलब्धियों के प्रति निःसंगता का भाव रखकर कर्म करें। ऐसा होने पर कार्य करने (कर्म) की सारी रासायनिक क्रिया ही बदल जाती है और प्रतिक्रिया स्वरूप विषैला दांत शक्तिहीन तथा निरर्थक बन जाता है। कर्मयोग के पथ का यही रहस्य है और उसे ही बुद्धि योग भी कहते हैं।



इस अध्याय के अंत में भगवान कृष्ण पूर्ण अर्थात् स्थितप्रज्ञ (जिसका मन स्थिर हो गया हो) बनने के लिए साधक द्वारा अपनाए जाने और विकसित किए जाने योग्य मुख्य गुणों का चित्रण करते हैं (श्लोक 55 से 71)।

1. भौतिक आकांक्षाओं और महत्वाकांक्षाओं का स्रोत हृदय है। ज्यों ही वे हृदय में उत्पन्न हों, उन्हें प्रारंभ में ही निर्मूल कर दें। किसी बाह्य वस्तु से किसी प्रकार की अपेक्षा या आवश्यकताओं की पूर्ति की आशा मत रखो और आत्मचिंतन में लीन रहकर पूर्णतया प्रसन्न रहो।

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्यार्थं मनोगतान्।

आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ (2-55)

2. किसी भी बाह्य संवेदना या घटना के कारण भय, क्रोध, दुःख, सुख आदि से विचलित मत हो। दुःख से अभिभूत मत हो। सुख सुविधा और भोगों के प्रति कोई आसक्ति मत रखो। कोई अच्छी घटना हो जाए तो हर्षातिरेक से पागल मत बनो और जब कुछ बुरा घट जाए तो हताशा और अवसाद से पस्त मत हो जाओ। अनवरत अभ्यास से ही इस तरह की स्थिति संभव होती है। साथ ही यह विश्वास भी आवश्यक है कि जो कुछ भी घटित होता है वह ईश्वर की इच्छा से ही होता है और अंततः वह कल्याणकारक ही होगा।

3. किसी भी इंद्रियों के विषय से आकर्षित मत होओ और उनका निराकरण करो। जब भी इंद्रिय के विषयों के प्रति मन आकर्षित होता हुआ देखोगे-चाहे वह कोई सुंदर नारी हो, सुस्वादु भोजन हो, सुमधुर संगीत हो, मादक सुगंध हो या ऐसा ही कुछ और हो - प्रयत्नपूर्वक उन लुभावनी वस्तुओं से अपनी आँखें, जीभ, कान, नाक आदि को खींच लो। यह कार्य तुम उसी सहजता से करो जैसे किसी भी आशंका से कछुआ अपने अंगों को अपने खोल में तुरंत समेट लेता है।

उपरि वर्णित अवस्था प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि हर अवसर पर इनका अनवरत अभ्यास किया जाए। जैसे बच्चों को मधुर वाणी और प्रेम से समझाबुझाकर ठीक रास्ते पर लाते हैं, उसी तरह मन को समझाये तथा आत्मानात्म का विचार करें।

यह अभ्यास प्रयत्नपूर्वक किया जाना चाहिए। उदाहरण के लिए जब कोई प्रिय खाद्य वस्तु आपके समक्ष आए-मान लें आइसक्रीम-उसे 'ना' कह दें, ऐसे ही कुछ मौकों पर आप उससे परहेज करें और अंततः उसे सदा के लिए अलविदा कह दें। इस अभ्यास को समाचार पत्र या उपन्यास पढ़ने में, सिगरेट पीने में, टी.वी. देखने आदि में भी लागू करें। इंद्रियों को नियंत्रित करने के लिये अपनी ही बुद्धि से नए नए तरीके ढूँढ निकाल कर प्रयोग कर सकते हैं। बाद के अध्यायों में अन्य अनेक गतिविधियों की चर्चा हुई है, जैसे (1) भगवान की प्रार्थना (2) कर्तापन का परित्याग कर अपने आप को भगवान के प्रति समर्पित कर देना आदि।

आध्यात्मिक प्रगति के लिए इंद्रियों का नियंत्रण अनिवार्य है। इंद्रियों को वश में करने के लिए मनुष्य को अनवरतरूप से उस भगवान का चिंतन करते रहना चाहिए, जो मनुष्य के हृदय में आत्मा के स्वरूप में अधिष्ठित है।

4. मन का भी नियंत्रण करें। सिर्फ इंद्रियों का नियंत्रण ही पर्याप्त नहीं है। भौतिक रूप से इंद्रियों को विषयों से खींच लेने पर भी यह संभव है कि मन उन सांसारिक वस्तुओं के पीछे ही दौड़ता रहे या उनका ही चिंतन करता रहे।

सांसारिक वस्तुओं के अनवरत चिंतन से आसक्ति उत्पन्न होती है। उस आसक्ति की परिणति क्रोध में और विवेकपूर्ण विचार के क्षय के रूप में होती है। और अंततः इसकी परिणति सर्वनाश में होती है। इंद्रियों को उनके विषयों से विरत कर पदार्थों की ओर से मन की दिशा को बदल दें और इसे स्थायी रूप से परमात्मा में लगा दें।

अंत में निम्नलिखित श्लोक में भगवान कृष्ण मन की शांति और परम आनंद का सूत्र प्रस्तुत करते हैं:

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।

निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति।

(2-71)

सभी कामनाओं का परित्याग कर दें और सभी घटित घटनाओं को मन से स्वीकार लें। सभी प्रकार की आसक्तियों (जिनमें स्वयं अपने शरीर के प्रति आसक्ति भी शामिल है) से मुक्त हो जाएँ। स्मरण रखें कि आप कर्ता नहीं हैं। घटनाएँ घटित होती रहती

हैं, घटित होने वाली सभी घटनाओं और कार्यों में आप भागीदार नहीं हैं, आप मात्र द्रष्टा हैं। ऐसी मनःस्थिति होने से अहंकार मिट जाता है। स्वामित्व का भाव मत रखें। दुनिया में आप न तो कोई संपत्ति लेकर आए थे और न साथ में कोई संपत्ति लेकर जाएँगे। स्वामित्व का भाव का अर्थ ही “यह मेरा है”। यह भाव आसक्ति उत्पन्न करता है। यदि आपका यह अभ्यास सध जाए तो आप पूर्ण शांति और पूर्ण आनंद प्राप्त कर लेंगे। इस महत्वपूर्ण अध्याय में भगवान निष्क्रियता या कर्म से विरति का समर्थन नहीं करते, बल्कि वे निष्काम कर्म अर्थात् फलासक्ति से रहित होकर कर्म करने का संदेश देते हैं। दूसरे शब्दों में इसे ‘योगः कर्मसु कौशलं’ (2-51) कहा गया है अर्थात् इस प्रकार का कर्मयोग जहाँ कर्म हमें बाँधता नहीं, हमें जकड़ता नहीं—कर्म करने का कुशल तरीका यही है।

### अध्याय-3

## कर्म करें, पर अनासक्त होकर

आधुनिक दुनिया के लिए गीता एक अनूठा वरदान है, जो हमारे लिए मनःचिकित्सा का एक सुंदर उपाय है, जिसके माध्यम से गृहस्थ जीवन जैसे सांसारिक कार्यों का निष्पादन जारी रखा जा सकता है। यहाँ एक सरल मनोवैज्ञानिक युक्ति का विधान हुआ है और वह है कि काम करें परन्तु कार्यों के परिणाम के प्रति आसक्ति का परित्याग करें। आध्यात्मिक मार्ग में सफलता के लिए यह आवश्यक नहीं है कि मनुष्य सभी कर्मों का सर्वथा परित्याग कर दे और संन्यास ग्रहण कर ले। यह विचार अध्याय-2 में बीज रूप में निहित है और अध्याय-3 से 4 तक इसका विकास हुआ है।

सभी कर्मों का परित्याग कर निष्क्रिय बनने से और औपचारिक संन्यास ग्रहण करने से मुक्ति संभव नहीं है। पूर्ण निष्क्रियता एक क्षण के लिए भी संभव नहीं है, क्योंकि मनुष्य का स्वाभाविक गुण उसे किसी न किसी कर्म में रत रहने को बाध्य करेगा। यदि कोई व्यक्ति अपने कर्मेन्द्रियों अर्थात् हाथ-पैरों आदि को नियंत्रित कर सांसारिक पदार्थों का चिंतन करता हुआ चुप-चाप बैठा रहता है, तो उसे दंभी ही कहा जाएगा। इसलिए इंद्रियों के साथ-साथ मन का नियंत्रण अनिवार्य है।

कर्मों से बँधे बिना इन्हें सफलतापूर्वक संपन्न करने का रहस्य यह है कि सभी कर्म ईश्वर को अर्पित किए जाएँ और सारे कर्म ईश्वर के लिए ही किए जाएँ। अपने दिन प्रति दिन के समस्त कर्म भगवान को अर्पित कर उन्हें दिव्य बना लेना चाहिए।

बिना किसी आसक्ति के अपना कर्तव्य करें, उसे ईश्वर के लिए और ईश्वर के प्रति अपना कर्तव्य समझ कर करें। ऐसा कर्म ही यज्ञ है। ‘यज्ञ’ शब्द की यह उदाह व्याख्या गीताजी की एक नई देन है। जब भी कोई कर्म स्वार्थ से मुक्त रह कर भगवान को अर्पित कर दिया जाता है, वह समाज के लिए कल्याणकारी बन जाता है और



इसीलिए इसे यज्ञ कहा गया है। ऐसे सभी यज्ञों में स्वयं परम प्रभु विद्यमान होते हैं और ऐसे यज्ञों (कर्मों) के द्वारा उनका साक्षात्कार किया जा सकता है।

सारी उपलब्धियाँ और खुशियाँ परमात्मा से ही प्राप्त होती हैं और वह परमात्मा यज्ञ से प्रसन्न होता है। जो व्यक्ति भगवान से प्राप्त उपलब्धियों के एक अंश को, एवं अपने कर्मों को भगवान को अर्पितकर, उसी को पुनः यज्ञद्वारा लौटाये बिना कार्यों में प्रवृत्त होता है, वह चोर समझा जाता है। ऐसे लोग पाप के भागी बनते हैं।

तथापि इस कर्म योग के द्वारा जिनका मन पहले ही पवित्र हो चुका है और विवेकपूर्ण साँख्य योग के अभ्यास के द्वारा जिनका मन स्थिर हो गया है, वे आत्मानंद में निमग्न रहते हैं और उनके लिए कोई कर्तव्य-कर्म नहीं बच जाता। ऐसे आत्मज्ञानी लोग जो शरीर के साथ मिथ्याभूत तादात्म्यभाव से मुक्त हो गए हैं उनके लिए आत्मचैतन्य में निष्ठित रहने के अतिरिक्त कोई और करणीय कर्म नहीं बचता। कोई भी कर्म करने या न करने से उनका कोई मतलब नहीं रह जाता। अपने लिए कोई प्रयोजन न रह जाने पर भी ऐसे आत्मज्ञानी लोग दूसरों के लिए उदाहरण प्रस्तुत करने के निमित्त कर्म करते रहते हैं। चूँकि स्वयं भगवान जगत् के कल्याण में अनवरत लगे रहते हैं जीवन्मुक्त ज्ञानी व्यक्ति भी उनका अनुसरण करते हैं और मानव जाति के कल्याण के लिए कर्म करते रहते हैं। ज्ञानी लोग इस विषय में सतर्क रहते हैं कि कर्मकाण्ड में आसक्त साधारण लोगों की बुद्धि को विचलित न किया जाय और कर्म से उन्हें छुड़वाने की बजाय ये उन्हें अपना कर्तव्य कर्म करते रहने के लिए प्रोत्साहित करते हैं।

सामान्य व्यक्ति के सभी कार्य-कलाप शरीर और मन (के समुच्चय के अंगभूत, प्रकृति के कार्यभूत) कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रिय द्वारा ही परिचालित होते हैं और इस कारण मनुष्य भ्रम में पड़कर अपने आपको इन कार्यों का कर्ता समझने लगता है। ऐसा इसलिए होता है क्यों कि व्यक्तिगत मिथ्याभूत अहंकार, कर्तापन को अपने ऊपर आरोपित कर लेता है। सभी कर्मों से असंपृक्त रहते हुए इस भावना से अपनी पृथकता बनाकर रखना ही साधना है-“मैं कुछ भी नहीं करता। सभी कार्य समष्टि में घटित होते रहते हैं और मैं उनका द्रष्टा मात्र हूँ। आँखें देखती हैं, कान सुनते हैं, पैर मुझे इधर-उधर ले जाते हैं और इस प्रकार अलग-अलग इंद्रियाँ अपने-अपने कर्मों में लगी रहती हैं। मैं कुछ भी नहीं करता”। इस प्रकार का अनवरत चिंतन अहंकार का शमन कर देता है और

अहंकार के अभाव में आसक्ति हो नहीं सकती। कर्म के प्रति एवं उसके फल के प्रति अनासक्ति विकसित करने की यह एक युक्ति है।

ऊपर की बात को दृष्टांत के रूप में ऐसा कहा जा सकता है कि पैर व्यक्ति को भोजन की मेज तक ले जाते हैं, हाथ थाली से ग्रास उठाकर मुँह में डालता है, कंठनलिका उन्हें निगलती है और पेट तक पहुँचाती है। फिर मनुष्य को यह कहने का अधिकार कैसा है कि “मैं भोजन कक्ष में गया और मैं ने भोजन किया”। सभी प्राणी अपनी अपनी रुचि-अरुचि या प्रेम और घृणा से परिचालित होकर अपनी प्रकृति के अनुसार कार्य करते हैं, इस रुचि-अरुचि पर मनुष्य को अंकुश लगाना चाहिए। अन्यथा वे कर्म में परिणत होनेवाली कामनाओं को और क्रोध को जन्म देंगे। (कामनाएँ मनुष्य को कर्म से बाँधती हैं और कामनाओं की पूर्ति में बाधा होने पर क्रोध होता है।) कामना और क्रोध मनुष्य के दो महा शत्रु हैं, जो उसके विवेक को आच्छादित कर देते हैं और पापपूर्ण कृत्य के लिए उसे विवश कर देते हैं। इंद्रियाँ, मन और बुद्धि, कामना और क्रोध के वासस्थान (स्रोत) हैं। मन एवं इंद्रियों पर नियंत्रण पा कर मनुष्य को अपने आत्मतत्त्व में परिनिष्ठित होकर दृढ़ रहना चाहिए। कामना और क्रोध इन दो महा शत्रुओं के विनाश का यही तरीका है। आत्मा (जो परम सत्ता है) के चिंतन में पूरी तरह लीन होकर (पूरी तरह समर्पित होकर) मनुष्य को इंद्रियों, मन और बुद्धि के निरंकुश शासन से अपने को मुक्त कर लेना चाहिए।



## अध्याय-4 कर्म में अकर्म

निराकार और सर्वव्यापक ईश्वर की धारणा बना पाना और उस पर ध्यान केंद्रित करना या उसका चिंतन करना श्रमसाध्य या कठिन है, इसीलिए वह सनातन तत्व राम, कृष्ण, वामन आदि नर रूपों में जन्म लेकर अपने-आपको विशेष रूप से प्रकट करता है। निराकार और सर्वव्यापक ईश्वर के इस प्राकट्य को अवतार कहते हैं और जब-जब धर्म की हानि होती है, सद्वृत्तियों का, अच्छाइयों का हास हो जाता है, तब-तब धर्म की पुनःस्थापना के लिए (ईश्वर का) अवतार होता है। भगवान के इन अवतारों की लीलाओं में निहित रहस्य का चिंतन करने और उन्हें समझने का प्रयास करने मात्र से हमें मुक्ति प्राप्त हो सकती है। अवतारों के रूप में साकार भगवान और निराकार सनातन परमात्मा दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। अगुनहि सगुनहिं नहीं कछु भेदा, (रामचरितमानस)। दिव्य परमात्मा के इन अवतारों पर अपना विश्वास जमा पाना आसान है और इनकी लीलाएँ आध्यात्मिक प्रगति की ओर हमें प्रेरित करने का स्रोत बन सकती हैं।

श्री कृष्ण प्रेम ने मैडम ब्लेवोदस्की की 'द वायस ऑफ साइलेंस' (मौन की आवाज़) पुस्तक का उद्धरण दिया है कि भगवान का अवतार "ऐसी सीढ़ी है जिसका निचला भाग शिष्यों-अनुयायियों के दोष तथा उनके पापों के दलदल में गहरा धँसा है लेकिन जिसका शीर्ष निर्वाण के महिमान्वित आलोक में समाहित है।" जो व्यक्ति अवतार और जगत् में उसके लीला-विलास के रहस्य को जानता है, वह व्यक्ति इस देह को छोड़ने के बाद पुनः जन्म नहीं लेता।

इस प्रकार स्वयं भगवान भी मानव जाति के कल्याण के लिए अनवरत, विविध कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं, लेकिन अपने कर्मों के फल की आकांक्षा नहीं रखते। अतः स्वाभाविक रूप से कर्मों से उनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

पहले के अध्यायों में प्रतिपादित कर्म योग की यह नई-सी प्रतीत होनेवाली प्रविधि भगवान कृष्ण का कोई नया आविष्कार नहीं है, बल्कि वस्तुतः यह अतीत की पुरातन परंपरा की ही पुनः प्रतिष्ठा है।

जिसने कर्म-फल के प्रति आसक्ति का परित्याग कर दिया है, ऐसा व्यक्ति कर्म में प्रवृत्त होने पर भी, कुछ नहीं करता हुआ ही माना जाएगा। इस स्थिति को अकर्म या कर्म में भी कर्म न करना कहा गया है। पूर्ण ज्ञानी व्यक्ति जो मात्र अपने शरीर को बनाए रखने या मानव जाति के कल्याण के लिए ही कर्म करते हैं, उन्हें भी निष्क्रिय ही समझना चाहिए। उनके सभी कर्म अकर्म हैं; क्योंकि वे आसक्ति और हेतु से विरहित हैं अर्थात् उनकी सारी आसक्ति ज्ञान की अग्नि में जल चुकी है। जीवन्मुक्त ज्ञानियों को यह प्रतीति सदा बनी रहती है कि वे शुद्ध-बुद्ध आत्मा हैं, जो सभी कर्मों से मुक्त (परे) हैं।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।

ज्ञानान्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ (4-19)

जब कोई परियोजना भगवान का कर्म समझकर आरंभ की जाए या जब कोई भगवान के लिए ही पूर्ण समर्पण भाव से क्रिया जाए तो ऐसी परियोजना या ऐसा कर्म यज्ञ बन जाता है। फिर ऐसा कर्म अकर्म ही समझा जाएगा। इसके विपरीत, कोई व्यक्ति भले ही चुप-चाप बैठा-सा प्रतीत हो रहा हो परन्तु वह इस अहङ्कार से ग्रस्त हो कि "मैं बिना कोई कर्म किए प्रसन्न-चित्त और शांत बैठा हूँ" तो ऐसा अकर्म भी कार्य या कर्म ही समझा जाएगा, क्योंकि इस प्रकार के कर्म में उसे बन्धन में डालने की शक्ति है। जब हम सारे कर्म सिर्फ भगवान के लिए ही करते हैं, हम उन्हें प्रेमपूर्वक और समग्रतापूर्वक कर पाते हैं। चाहे कोई गृहस्वामिनी/गृहस्वामी हो, व्यवसायी हो, व्यापारी हो, क्लर्क हो या कुछ और हो, उसमें अपने काम के प्रति कभी असंतोष उत्पन्न नहीं होगा, न ही वह अपने काम से कभी ऊबेगा क्योंकि ऐसा व्यक्ति अपने पति/पत्नी, बच्चों, बॉस (अधिकारी) या अन्य किसी को प्रसन्न करने के लिए नहीं, बल्कि समस्त विश्व के परम प्रभु के लिए कार्य करता है और वह प्रभु उसका अपना ही है।

भगवान के प्रति प्रत्येक कार्य का वास्तविक अर्पण तभी हो सकता है जब यह बात पूरी तरह ध्यान में रखी जाए कि यज्ञ का निष्पादन, समर्पण की क्रिया,



आत्मा द्वारा आत्मा की अग्नि में किया गया अर्पण, ये सब ब्रह्म की ही विविध अभिव्यक्तियाँ हैं और इनका लक्ष्य भी ब्रह्म अर्थात् परमात्मा भगवान ही है। अंततः यह सनातन परमात्मा ही एकमात्र यथार्थ सिद्ध होता है, जबकि जन्तुओं एवं विषयों से भरा यह संपूर्ण दृश्य जगत्, वस्तुतः एक सनातन ब्रह्मांडव्यापी नाटक है जहाँ मंच, दर्शक, अभिनेता, पटकथा—ये सब परमात्मा के कल्पना-विलास हैं। परमात्मा का यह कल्पना विलास वैसा ही है, जैसे हमारे सपने। संधाता ही संधेय है अर्थात् तलाश करने वाला ही वह है, जिसकी तलाश की जा रही है और उस संधान के समस्त साधन-उपकरण भी अंततः वही है। संपूर्ण जीवन को आप एक नाटक या खेल समझें जहाँ स्वयं परमात्मा ही सारी भूमिकाएँ निभा रहे हैं, सभी मनुष्यों का पात्र लेते हैं, वही नाटक का संचालन करने वाले सूत्रधार भी हैं और वही दर्शक-समुदाय भी हैं। जब तक आप ईश्वर—जो सभी नाटकों के पीछे एकमात्र सत्य हैं—के सान्निध्य के प्रति सतत जाग्रत हैं, तब तक कोई भी आकांक्षा, निराशा, दुःख-दर्द, विषाद या कष्ट आपके ऊपर आक्रमण नहीं कर सकता। यह एक उत्तम उपाय है जिसके द्वारा मुक्ति हस्तगत हो जायेगी।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणाहुतम्।

ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥

(4-24)

यह एक शक्तिशाली मंत्र है जो सभी आश्रमों के भोजन कक्ष में दोपहर के भोजन ग्रहण करने के पूर्व प्रति दिन उच्चारित किया जाता है। इससे भोजन शुद्ध हो जाता है और वह ईश्वर का प्रसाद बन जाता है।

जीवन-व्यवहार में निःस्वार्थ भाव से किए गए सब निम्नलिखित कार्य यज्ञ बन जाते हैं, जो मनुष्य के पापों को धो डालते हैं :

1. बहिर्मुखी इंद्रियों का निरोध तथा उन पर नियंत्रण और प्राणायाम का अभ्यास
2. जरूरतमंदों को दान देना
3. ईश्वर के प्रति अर्पण भाव से किये गये तप (उपवासादि) और ध्यान
4. आध्यात्मिकज्ञान के संधान में संपूर्ण जीवन अर्पित कर देना
5. मिताहार (अल्प भोजन) द्वारा भोग सुख को यज्ञरूप में परिवर्तित करना।

इस प्रकार के आध्यात्म रूप में परिवर्तित कर्मों के अभ्यास से भौतिक प्रवृत्तियों एवं तृष्णाओं का निवारण हो जाता है और साधक आत्मसाक्षात्कार का पात्र बन जाता है। मन की शांति का यही एकमात्र पथ है। इस प्रकार से किए गए सभी कर्म मनुष्य को परम ज्ञान की ओर ले जाते हैं। सभी यज्ञों (इनमें वैदिक अनुष्ठानवाले यज्ञ भी शामिल हैं) में ज्ञान यज्ञ सर्वोत्तम है। ज्ञानयज्ञ का तात्पर्य है आत्मज्ञान की खोज में संपूर्ण जीवन को अर्पित कर देना।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञानयज्ञः परंतप ॥

(4-33)

यही परम (निरपेक्ष) ज्ञान है जो शुद्ध चेतना है और यही एकमात्र सत्य है। यह चेतना ही संसार एवं जीव के रूप में भासती है। इस आत्मज्ञान को प्राप्त कर लेने पर अतीत के कर्मों के सभी अवश्यभावी परिणाम (फल) अर्थात् बुरे-भले कर्मों के परिणामस्वरूप प्राप्त होनेवाले दंड और पुरस्कार जो भोगके लिए परवर्ती जन्मों की प्रतीक्षा कर रहे होते हैं, वे सभी भस्मीभूत हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में कर्म-फल उत्पन्न करने वाली यह भूमि बंजर बन पाती है अर्थात् यहाँ कोई अंकुरण ही नहीं होता।

इस ज्ञान को पाने के लिए आत्मज्ञान में प्रतिष्ठित आत्मोपलब्ध महापुरुषों के समक्ष अत्यंत विनम्र होकर उन गुरुओं को साष्टांग प्रणाम करके तथा उनकी शुश्रूषा, सेवा करते हुए हमें ज्ञान-अज्ञान तथा मुक्ति एवं बंधन के विषयों में अपनी जिज्ञासाएँ निवेदित करनी चाहिए।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥

(4-34)

शास्त्रों में एवं गुरु के वाक्यों में पूर्ण श्रद्धा एवं अनुशासनयुक्त होकर हमें ज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रयासरत होना चाहिए। एक बार जब अज्ञान नष्ट हो जाता है, फिर कर्मों में मनुष्य को बाँधने की क्षमता नहीं रह जाती।

ज्ञान की तलवार से जिसके संशय कट गए हैं, जो सभी कर्मों के प्रति अपनी आसक्ति का मानसिक परित्याग कर दिया है और आत्मनियंत्रण को साध लिया है वह व्यक्ति सभी बंधनों से परे हो जाता है।



भगवद्गीता के वाक्यों में से केवल साधकजनों के लिए उपयुक्त साधनाओं को सर्वथा पृथक्-पृथक् करना आसान नहीं क्योंकि उसका बहुलांश जो सैद्धांतिक दर्शन प्रतीत होता है, वह वस्तुतः मनन और ध्यान के निमित्त बना है और यही मुख्य साधना है। गीता में निहित ज्ञान को केवल अपने बुद्धिबल पर निर्भर होकर समझने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए बल्कि एक प्रकार की अंतःप्रज्ञा विकसित करनी चाहिए। यही चीज उस गहन सत्य को – जो इंद्रियों की पकड़ से परे है तथा जो मन-बुद्धि के द्वारा अगम्य है – ग्रहण कर पाने में सफल बना सकती है।

## अध्याय-5

### हर कर्म को दिव्य बना लें

आध्यात्मिक पथ दो प्रकार के हैं :-

1. कर्मयोग : फल के प्रति आसक्ति से मुक्त होकर और यज्ञ की भावना से युक्त होकर फल भगवान को अर्पित करते हुए कर्मों का निष्पादन करना।
2. सांख्य योग : सभी कर्मों का, यहाँ तक कि अनिवार्य कर्मों का भी परित्याग और संन्यास-ग्रहण करना।

प्रथम मार्ग में मन संतुलित और शांत रहता है, जबकि शरीर क्रियाशील रहता है। यह कर्म और संन्यास का अच्छा सामंजस्य है। इस मार्ग पर चारों ओर चल रहे झंझावातों के केंद्र में रहने की कला सीखनी होती है। जब व्यक्ति सभी प्रकार की पसंद और नापसंद से मुक्त हो तब समझना चाहिए कि वह व्यक्ति शाश्वत संन्यास में स्थित है।

उपर्युक्त दोनों मार्गों का अंतिम लक्ष्य एक ही है।

फिर भी संन्यास की तुलना में कर्मयोग का अभ्यास सुगम है।

‘मैं-मैं’ की अपनी पृथक् सत्ता के एहसास के रूप में केवल मिथ्या अहंकार है जो पसंद और नापसंद के रूप में हमारे सभी प्रकार की आसक्तियों और संस्कारों का मूल (केंद्र) है। सभी कर्मों के कर्ता हम हैं, इस कल्पित मान्यता के द्वारा यह अहंकार और भी पल्लवित-पोषित होता है। पूर्ववर्ती अध्याय में जैसी कि चर्चा की जा चुकी है, मात्र साक्षी के रूप में निर्लिप्त रहते हुए कर्तापन के अहसास के परित्याग का प्रयास किया जाना चाहिए। भिन्न-भिन्न इंद्रियों द्वारा किए जानेवाले कर्मों को बिना किसी पसंद या नापसंद के भाव से देखने की कला सीखनी चाहिए। सभी कर्म प्रकृति के नाटक

के अंश हैं और इन्हें प्रकृति के विधान से ही घटित समझना चाहिए। हम किसी भी कर्म के न तो कर्ता हैं और न ही उसके प्रेरक या कारण हैं। रेल गाड़ी के द्वारा यदि हम कलकत्ता से दिल्ली जा रहे हैं तो गाड़ी ही चलती है, न कि हम। हम तो सिर्फ बैठे बैठे पहुंच जाते हैं। यदि हम ऐसा दृष्टिकोण अपना लें तो शरीर के द्वारा किए जानेवाले अच्छे-बुरे कर्मों के फल से हम बंधेंगे नहीं। ऐसी स्थिति में मनुष्य अच्छे और बुरे की भावना से ऊपर उठ जाता है और अंततः सदा-सर्वदा के लिए जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जाता है।

मनुष्य को हमेशा इस ध्यान में रहना चाहिए कि मैं आत्मा हूँ। बुद्धि को आत्मा के ध्यान में सतत तल्लीन रहना चाहिए। हर व्यक्ति को आत्मसाक्षात्कार को ही जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य बनाना चाहिए और आत्मध्यान में ही निश्चित रहना चाहिये।

ऐसे साधक आत्मज्ञान प्राप्त होने के उपरांत पुनः कभी भी अपने शरीर को आत्मा समझकर उसके साथ तादात्म्य भाव में नहीं आयेंगे।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः

गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥ (5-17)

आत्मज्ञानी और सारे कर्मों से सन्यस्त पुरुषों के निम्नलिखित लक्षण सभी साधकों को अपनाना चाहिए:

1. सब को समदृष्टि से देखें—चाहे वह कुत्ता हो या विद्वान या नीच जाति का कोई व्यक्ति हो।
2. अभीप्सित या अनुकूल की प्राप्ति पर प्रसन्नता से उछलने न लगे और प्रतिकूल घटित होने पर दुःखी भी न हो। मन को सदा परम सत्य के मनन में दृढ़तापूर्वक लगाए रखें।
3. सभी बाह्य वस्तुओं से अपने मन को पृथक् कर लें और इसे केवल परमात्मा के साथ जोड़ लें (अर्थात् सतत रूप से परम सत्ता का एवं उनकी विभूतियों को अनवरत ध्यान करें जैसा कि गीता और उपनिषदों में वर्णित है)। इस तथ्य

को बार बार स्मरण रखें कि बाह्य वस्तुओं में इंद्रियों की लिप्तता द्वारा प्राप्त सभी सुख क्षणिक व अस्थायी प्रकृति वाले हैं और इनकी परिणति प्रायः दुःखों में ही होती है।

4. इस जीवन काल में ही अपने आत्मबल द्वारा उन्मुक्त कामनाओं एवं क्रोध के आवेगपूर्ण प्रवाह को नियंत्रित करें। उन क्रोधादि वृत्तियों से आप प्रभावित मत हो जाएँ। प्रसन्नता और मुक्ति (मोक्ष) प्राप्ति का यह भी एक सूत्र है:

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।

कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥

(5-23)

अपनी इंद्रियों को नियंत्रण में रखनेवाले और सभी प्राणियों के हित-साधनवाले कर्मों में लगे रहनेवाले महापुरुष मोक्ष पा जाते हैं।

5. संपूर्ण जगत् के नियता के रूप में, साधक द्वारा निःस्वार्थ भाव से किए गए संपूर्ण यज्ञमय कर्मों के फलों के भोक्ता के रूप में और सभी प्राणियों के हितैषी और मित्र के रूप में मनुष्य को भगवान का सतत ध्यान करते रहना चाहिए। एक बार जब मनुष्य आध्यात्मिक अनुभवों के द्वारा भगवान की इन विभूतियों का प्रत्यक्ष दर्शन कर लेता है तो वह परम शांति को पा लेता है।



## अध्याय-6

### ध्यान धरें और साक्षात्कार पावें

कुछ टीकाकारों (व्याख्याकारों) के अनुसार संपूर्ण गीता वेद का महावाक्य 'तत् त्वम् असि' (अर्थात् 'तुम वही हो') की व्याख्या है। यह अध्याय साधक का शुद्धि योग (त्वम्) से लेकर उसके (परब्रह्म के) प्राकट्य या साक्षात्कार योग (तत्) की ओर प्रयाण (प्रस्थान) है। यह मानसिक अनुशासन की तकनीक के रूप में ध्यान से आरंभ होता है ताकि अपने चैतन्य को परमात्मा की प्राप्ति तक के उच्चतर स्तरों तक ले जा सके। नित्य कर्म जैसे अनिवार्य अनुष्ठान का विधि विधान एवं अन्य कर्तव्य, ध्यान योग में प्रवेश करने के लिए आवश्यक हैं। संचित नकारात्मक प्रवृत्तियों से मन को शुद्ध करने के लिए साधना की प्रारंभिक अवस्था में फल के प्रति आसक्ति रखे बिना कर्म करना अनिवार्य है। ऐसा होने पर ही साधक अनासक्ति (असङ्गत्व) में प्रतिष्ठित हो पाता है और कर्म की ओर प्रवृत्त करने वाली इच्छाओं की मनोवृत्तियों के बिना कर्म संबंधी सभी योजनाओं का परित्याग कर सकता है। इस स्तर पर ध्यान की अवस्था में स्थिर होने के लिए सभी कर्मों से पूर्णतः विरति (अकर्म) अनिवार्य है।

ध्यान में प्रतिष्ठित (स्थापित) होने की दूसरी अनिवार्य योग्यता यह है कि सभी प्रकार की पसंद-नापसंद आग्रह-दुराग्रह आदि का परित्याग कर दिया जाए और सभी मनुष्यों (मानव मात्र) को एक-सा समझा जाए। शत्रु या मित्र, दुःख या सुख, गरमी या ठंडक, निंदा या स्तुति आदि के प्रति बिना किसी प्रकार की पसंद या नापसंद के साधक का मन एकरस तथा समभाव का होना चाहिए। मन जब तक इच्छाओं (एषणाओं), घृणा, विद्वेष, सुख-दुःख आदि के एहसासों तथा अपने प्रिय पात्रों एवं अन्य बाह्य वस्तुओं के प्रति स्वार्थपूर्ण आसक्तियों से परिचालित होता रहेगा, तब तक वह शांत नहीं हो सकता और ईश्वर पर केंद्रित नहीं हो सकता। हम जिनके प्रति आसक्त हैं या जिनके प्रति विद्वेषग्रस्त हैं, हमारे विचार बार बार उन्हींके इर्द-गिर्द घूमते

रहते हैं। इसलिए साधक को एकांत की तलाश करनी चाहिए, अपने मन को नियंत्रित करना चाहिए और सभी प्रकार की एषणाओं (इच्छाओं), लोभ-लालच, आसक्ति एवं स्वामित्व की भावना से मुक्त हो जाना चाहिए।

ध्यान के लिए साधक को ऐसे स्वच्छ स्थान का वरण करना चाहिए जो न अधिक ऊँचा हो और न अधिक नीचा हो। बैठने के स्थान पर कुश की आसनी, उसके ऊपर मृगछाला और सबसे ऊपर (सूती) कपड़ा बिछा लेना चाहिए। साधना की अवस्था में हमारी ऊर्जा की भूमि में क्षरण होने से रोकने के लिए कुश आदि की आसनियाँ अवरोध का काम करती हैं। साधक को अपना शरीर, गर्दन और मस्तक को एक उन्मुख सीधी रेखा में रखना चाहिए ताकि हृदय, फेफड़े एवं प्राण ऊर्जा उन्मुक्त रूप से कार्य कर सकें। ऐसी तनावमुक्त मुद्रा मन को अन्तर्मुख करने के लिए वांछित है। मन ही मन (मानसिक रूप से) आँखों द्वारा नासाग्र पर ध्यान केंद्रित करना चाहिए और शरीर को अविचल और निष्कम्प रखते हुए भगवान का ध्यान करना चाहिए। मन को तनाव, क्षुब्धता या विह्वलता (उथल-पुथल) और कामप्रवृत्ति के विचारों से मुक्त रखना चाहिए। साधक को अपने ब्रह्मचर्य व्रत के प्रति दृढ़ होना चाहिए और यौन शक्ति के क्षरण से बचना चाहिए।

मन तथा ध्यान के ऊपर अपना प्रभाव डालने में भोजन तथा निद्रा का मुख्य स्थान हैं; इसीलिये इन दोनों में संयम की आवश्यकता है। अधिक भोजन करना या पूर्ण उपवास करना ये दोनों योग में हानिकारक हैं। इसी तरह अधिक निद्रा करना या रात भर लगभग जागते रहना ये दोनों ही योग के विघ्नकारक हैं। "अति सर्वत्र वर्जयेत्"। दोनों छोरों को छोड़कर मध्यमार्ग में ही चलना चाहिए। यह नियम, कार्यों में व्यस्त रहने तथा चलने-फिरने में भी लागू है।

योग के अभ्यास से निरुद्ध होकर मन जब हर प्रकार की इच्छाओं से मुक्त हो जाता है और केवल आत्मा में स्थित हो जाता है तब मन एकाग्र हो जाता है, वह वायु के झोंकों से रहित स्थान पर रखे दीपक की लौ की तरह अविचल बन जाता है। इस अवस्था की प्राप्ति ही श्रेष्ठतम परम लाभ है। उस अवस्था में जब एक बार स्थिति हो जाती है, फिर बड़े-से-बड़े दुःख, संकट, आफ़त आदि भी उसे विचलित नहीं कर सकते।



इस योग-मार्ग की यात्रा में, विभिन्न वस्तुओं एवं बीती घटनाओं की ओर भागने वाले मन को बारंबार आत्मा के प्रति वापस लाना और उसे केंद्रित करने का अध्यवसाय आवश्यक है।

उपर्युक्त अभ्यास के परिणामस्वरूप जो योगी आत्मतत्त्व में स्थित हो गए हैं, उनमें समदृष्टि आ जाती है और समस्त प्राणियों के साथ वे अपना तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं। सभी प्राणियों में वे अपनी ही आत्मा के दर्शन करने लगते हैं और सभी प्राणियों को भगवान (आत्मा) में स्थित देखते हैं।

प्रश्न उठता है कि मन को नियंत्रित (निरोध) कैसे किया जाए (क्योंकि सभी साधनाओं का मूल आधार यही है)। भगवान कृष्ण के अनुसार भगवन्नाम के बार-बार स्मरण द्वारा अर्थात् जितनी बार भी मन भटकता हो, उतनी बार उसे खींचकर भगवान में लगाना एवं अनासक्ति अर्थात् सांसारिक वस्तुओं से सुख-लाभ की इच्छाओं के परित्याग द्वारा ही मन को पूरी तरह वश में रखा जा सकता है। अभ्यास और वैराग्य ही उपाय हैं।

अर्जुन एक अत्यंत प्रासंगिक प्रश्न पूछते हैं कि जिन साधकों में अध्यवसाय (दृढ़ता) एवं अनवरत प्रयास का अभाव होता है और जिनका मन योग-मार्ग से विचलित हो जाता है, उनकी क्या गति होती है। भगवान कृष्ण उन्हें आश्वस्त करते हैं कि साधक ने जितनी भी साधना कर ली है, वह उसके खाते में जमा हो जाती है (उसकी स्थायी पूंजी बन जाती है) और वह संचित (जमा) ही रहती है अर्थात् उसका क्षय नहीं होता। सुखोपभोग (आनंद) के अनेक दिव्य लोकों में निवास करने के पश्चात्, इस प्रकार का पथभ्रष्ट साधक अनेक जन्मों के उपरांत किसी समृद्ध एवं पुण्यात्मा के घर में जन्म लेता है। अन्यथा वह किसी योगी के घर में जन्म लेता है। पूर्व जन्मों में अपने योग के द्वारा अर्जित ज्ञान और विवेक-बुद्धि, संस्कारों के रूप में पुनः प्राप्त हो जाते हैं और पूर्णता की प्राप्ति के लिये उसे अग्रसर करा देते हैं।

## अध्याय-7

### वही सब कुछ है

तीसरे से पाँचवें अध्याय तक जहाँ ईश्वर-साक्षात्कार के लिए कर्मयोग का द्वार खोला गया है, वहीं छठे अध्याय में ध्यान का द्वार खुलता है। इस सातवें अध्याय में भक्ति और शरणागति का तीसरा द्वार खुलता है। यद्यपि ईश्वर तक पहुँचने के अनेक मार्ग हैं, तथापि हजारों में कोई एकाध (एक-दो) ही होते हैं जो भगवान को पाने का प्रयत्न करते हैं और उन प्रयत्न करनेवालों में भी ईश्वर-साक्षात्कार में सफल होने तक अपने प्रयत्न में दृढ़ रहनेवाले विरले ही होते हैं।

ब्रह्मांड के सभी प्राणियों की उत्पत्ति दो वस्तुओं से हुई है-अविभक्त आत्मा से और अष्टधा प्रकृति - भगवान की दिव्य और सक्रिय शक्ति - से जिसे माया भी कहा जाता है। प्रकृति के आठ तरह के रूप हैं- पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार। ब्रह्मांड के सभी पदार्थों के आदि और अंत तथा परम कारण भगवान हैं। यही परमात्मा शरीरगत वैयक्तिक आत्मा में भी परिणत होता है, जिसे जीव कहा जाता है। सूर्य और चंद्रमा का तेज, पंच तत्वों का सार, बुद्धिमानों की बुद्धि, बलशालियों का बल, सभी प्राणियों (जीवों) में स्थित प्राण, तपस्वियों (योगियों) का तप आदि उस भगवान की लीलाएँ हैं। ब्रह्मांड की सभी वस्तुओं का मूलाधार यह एक चैतन्य है। इस संदर्भ में सेंटथॉमस के निम्नलिखित वाक्यों का उद्धरण प्रासंगिक होगा, जो 1945 में मिश्र के नाग हमाड़ी गुफ़ा से प्राप्त हुआ है।

“मैं (ही) वह आलोक हूँ जो सभी वस्तुओं को प्रकाशित करता है। मैं ही सब कुछ हूँ। मुझसे ही सभी उत्पन्न होते हैं और मुझमें ही सब विलीन होते हैं। लकड़ी को तोड़ो, मैं वहाँ भी हूँ। पत्थर उठाओ, तुम उसमें भी मुझे पाओगे।”

यह सब माया का खेल है और माया भगवान की विक्षेप शक्ति है, जो तीन गुणों सत्व, रजस और तमस से निर्मित है। इसी के कारण जगत् में विविधता और विभिन्नता से विभक्त तथा पृथक् पृथक् नाना रूपों के पदार्थ दिखाई पड़ते हैं तथा इन वस्तुओं के प्रति पसंद और नापसंद के संस्कार उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार के पसंद-नापसंद (लगाव-दुराव) ही हमें कर्म के लिए प्रेरित करते हैं और ऐसा ही कर्म हमें बाँधता है, जिसके परिणामस्वरूप दुःख-दर्द(कष्ट) उत्पन्न होते हैं। यदि हम माया के चंगुल से बचना चाहें तो भगवान में भक्ति भाव रखते हुए उनके समक्ष बिना शर्त शरणागत होना होगा और उनकी इच्छा से जो भी घटित हो रहा है, उसके प्रति स्वीकृति का भाव उत्पन्न कर लेना होगा, यही एक मात्र रास्ता है।

दैवी ह्येषा मुणमयी मम माया दुरत्यया।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥ (7-14)

बिना शर्त अपने को 'समस्त ब्रह्मांड में व्याप्त परमात्मा'— जो सभी रूपों में और सभी वस्तुओं में दृश्यमान है— के आधीन मानकर शरणागति पाई जा सकती है। शरणागति से अहंकार नष्ट हो जाता है। भक्ति का अभिप्राय है हृदय के सभी भावों और उद्वेगों को सिर्फ ईश्वर की दिशा में मोड़ देना। सभी साधनाओं का यह मूल आधार है।

नीचे दिए गए चार तरह के भावों में से किसी से भी हम भगवान को प्राप्त कर सकते हैं:

1. विपत्ति, दुःख, कष्ट आदि से आक्रान्त होकर भगवान को ही उद्धारक या परित्राता समझना
2. एक वैज्ञानिक जिज्ञासा के रूप में भगवान की तलाश करना
3. इच्छाओं की पूर्ति के लिए भगवान के आश्रय में जाना
4. ज्ञान की प्राप्ति की खोज

उपर्युक्त चार तरह के लोग भी भक्त माने जाते हैं। भगवान से भौतिक इच्छाओं की पूर्ति की कामना करते-करते भी यथासमय ईश्वर में हमारा विश्वास और उनकी भक्ति दृढ़ हो जाती है और अंततः हम परम लक्ष्य को पा जाते हैं।

भगवान की दृष्टि में ज्ञानी भक्त (ज्ञान की खोज करने वाला) श्रेष्ठतम भक्त होता है; क्योंकि वह तो भगवान का ही आत्म स्वरूप समझा जाता है। लेकिन ज्ञानी को भी कई जन्मों की साधना के बाद यह साक्षात्कार हो पाता है कि— वस्तुतः सब कुछ आत्मस्वरूप भगवान श्री कृष्ण ही हैं — वही आत्मतत्त्व हैं और इस अनुभूति के बाद ही वह भगवान को पा सकता है।

भौतिक उपलब्धियों के लिए लोग जिन विविध देवी-देवताओं का पूजन करते हैं, वे सभी उसी एकमात्र असीम, अनंत ब्रह्म के सीमित संस्करण हैं। वह परम ब्रह्म ही इन भक्तों में विविध देवी-देवताओं के प्रति भक्ति की लौ जलाता है और उन देवताओं के रूप में वही परम ब्रह्म उनकी इच्छाओं की पूर्ति भी करता है। ऐसे भक्त सीमित फल पाते हैं। जो भक्त उस परम ब्रह्म को ही असीम और शुद्ध चैतन्य के रूप में पूजते हैं, वे शाश्वत आनंद के परम लक्ष्य को पा लेते हैं जबकि ऐसे लोग (देवी-देवताओं के पूजक) मात्र सीमित और अस्थायी लाभ ही प्राप्त करते हैं। यहाँ तक कि जब कोई व्यक्ति शिव, राम, कृष्ण आदि देवों की पूजा करता हो तो उसे यही दृष्टि रखनी चाहिए कि वह इन नाम-रूपों के माध्यम से परम ब्रह्म की ही पूजा (आराधना) कर रहा है।

हमें यह समझना चाहिए कि परब्रह्म का ही प्राकट्य जगत् और (प्रत्येक)जीव के रूप में हुआ है। नाना रूपात्मक वस्तुओं का अस्तित्व वस्तुतः ब्रह्म की माया शक्ति के विक्षेपांश के कारण ही भासते हैं। जो भगवान के चरणों में शरणागत हो जाते हैं वे मृत्यु के समय अंततः यह प्रत्यक्ष जान लेते हैं कि सभी नामस्वरूपों में, सभी कर्मों और प्रत्येक जीव एवं संपूर्ण जगत् में निहित सार के रूप में ब्रह्म की ही सत्ता है। जो लोग जगत् और उसके पदार्थों के प्रति पूर्ण वैराग्य उत्पन्न नहीं कर सकते, उनके लिए यही एक प्रकार की उपयुक्त साधना है।



## अध्याय-8

### हे मृत्यु! तुम्हारा डंक किधर है ?

अधिकांश लोगों के मन में विशेषकर वृद्धों में मृत्यु का भय अत्यंत त्रासदायी और दुर्दमनीय होता है। इस अध्याय में जीवन के अंतिम समय में आत्मसाक्षात्कार का एक सरल उपाय बताया गया है, ताकि हम शांति, आनंद और अमरता को प्राप्त कर सकें।

लेकिन जीवन के अंतिम क्षण तक हम बिना किसी प्रयास के लापरवाही के साथ बैठे रहें, ऐसा नहीं चल सकता। यदि प्रारंभ से ही इस उपाय का अभ्यास प्रयत्नपूर्वक न किया, तो मृत्युशय्या पर इसे नहीं साधा जा सकता।

सारा दृश्यमान जगत्, ब्रह्म अर्थात् परम सत्ता की संकुचित शक्ति से ही अभिव्यक्त होता है। यह परम सत्ता सबसे विलक्षण है और एकमात्र अविनाशी है। वह न तो कर्ता (द्रष्टा) है और न ही कर्म (दृश्य)। अपनी माया की शक्ति से वही ब्रह्म कर्ता बन जाता है और वही वस्तुओं के रूप में स्वयं को देखता भी है। ब्रह्म जो इंद्रियातीत विषयों में कर्ता के रूप में भासता है वही जीवात्मा के रूप में प्रत्येक शरीर के माध्यम से अपने आपको अभिव्यक्त करता है। वही ब्रह्म दूसरे रूप में दृश्य या मूलप्रकृति के रूप में भी अभिव्यक्त होता है जो मूल प्रकृति (अर्थात् अधिभूत) सतत परिवर्तनधर्मा विविध रूपोंवाले दृश्यमान जगत् का अव्यक्त कारणभूत है। दूसरी तरफ, सभी जीवों (प्राणियों) में, ब्रह्म, साक्षी चेतना (अर्थात् अधिदैव) के रूप में समस्तप्राणियों के अन्तर्यामी बनकर अधिष्ठित होते हैं। समस्त विश्व में व्याप्त परमात्मा एक ऐसा सूक्ष्म केन्द्र है जिससे समस्त जीव अपनी इन्द्रियों की शक्ति पाते हैं। वही 'अधिदैव' है।

ब्रह्म अपने आप को एक तरफ चैतन्य आत्मा के रूप में और दूसरी तरफ नामरूप जगत् के अंशीभूत जड़ शरीर के रूप में प्रकट कर लेता है। ब्रह्म के इस द्विविध रूप

के कारण ही मृत्यु के नाजुक समय में भी मनुष्य अपना तादात्म्य मरणधर्मा शरीर के साथ ही करता है, अपने अविनाशी चैतन्यरूप से नहीं। इसी भ्रमस्वरूप मानसिक कल्पना के कारण कि हम शरीर हैं, हम मुसीबतों में फँसे हैं और अविनाशी आत्मरूप चैतन्य के रूप में अपने तादात्म्य की कल्पना के माध्यम से ही इन चक्कों से मुक्त भी हो सकते हैं। मनुष्य जैसा सोचता है, वैसा ही बनता है। मृत्यु के समय भगवान का स्मरण, भगवान तक पहुँचने का अचूक मार्ग है। लेकिन जो समस्त जीवन में एकाग्र मन से भगवान के ध्यान के अनवरत अभ्यास का प्रयत्न करते रहते हैं केवल वे ही मृत्युशय्या पर ईश्वर का स्मरण कर पाने में समर्थ होते हैं। अन्यथा उस समय भी अन्यान्य सांसारिक कार्य-कलाप के ही स्मरण आते हैं और वे सगे-संबंधी, जिनसे हम जीवन-पर्यंत आसक्त रहे वे ही, मन की आँखों के समक्ष साकार होते हैं। मृत्यु के समय मन में जो विचार आते हैं, उन्हीं से पुनर्जन्म तथा भावी जीवन की प्रकृति निर्धारित होती है। मृत्यु पर्यंत अनवरत और एक मात्र भगवान का स्मरण ही मोक्ष की कुंजी है।

साधक को समस्त जीवन-पर्यंत पूर्व जन्मों से उत्तराधिकार में प्राप्त सभी प्रकार की नकारात्मक प्रवृत्तियों (जो वासना के रूप में संचित हैं) से लड़ते रहना पड़ता है। इन वासनाओं के साथ संघर्ष के समय विजय तभी सुनिश्चित हो सकती है जब भगवान का स्मरण सतत बना रहे और संघर्ष के समय भगवान के सान्निध्य की प्रार्थना की जाए।

“तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।” (8-7)

भक्ति मार्ग जो भगवान के सतत स्मरण के रूप में अभिव्यक्त होता है वह भगवान तक पहुँचने का सर्वोत्तम मार्ग है। जो भगवान है, पुरातन, सभी प्राणियों के नियंता, परमाणु से भी सूक्ष्म, सबकी रक्षा करने वाले, अचिंत्यरूप (जिसके स्वरूप को समझा न जा सके), स्वयं प्रकाश और सभी अंधकारों से परे हैं, उन का ध्यान कर सकते हैं।

कविं पुराणमनुशासितारम् अणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।

सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपम्, आदित्य वर्णं तमसः परस्तात्। (8-9)

ध्यान करने के लिए यह एक अच्छा स्तोत्र है।

ॐ अक्षर परमात्मा का सूचक निकटतम प्रतीक है। मृत्यु के समय हृदय पर ध्यान केंद्रित करते हुए अपनी चेतना को समेटकर सारे इंद्रियों के द्वारों को बंद कर

लें और मन को भगवान के चिंतन में निमग्न कर लें। ॐ का उच्चारण करते हुए शरीर का त्याग कर दें। इस प्रकार मनुष्य उस उच्च अवस्था को प्राप्त कर सकता है जहाँ से पुनः इस संसार में वापसी नहीं होती।

अपने प्रियतम परमात्मा के प्रति आर्त हृदय से की गई प्रेमपूर्ण भक्ति में एक बृहत् तथा ऐसी अद्भुत शक्ति है, जो साधक को शांति और आनंद के परम धाम में ले जाती है, जहाँ से पुनरावर्तन नहीं होता।

ज्योति मार्ग और अंधकार का मार्ग—इन दो पथों में से किसी एक से प्रत्येक आत्मा को निकलकर जाना पड़ता है। जिस आत्मा ने जीवन-पर्यंत भगवान के स्मरण का अभ्यास किया है, वह चेतनात्मक समुज्वल ज्योति मार्ग द्वारा एक प्रकाशयुक्त लोक से दूसरे प्रकाश-युक्त लोक होते हुए अन्ततः परब्रह्म के परमधाम पहुँचेगा। जो मनुष्य जीवन-पर्यंत (यज्ञ आदि) कर्मों में ही लिप्त रहता है और जो भगवान के प्रति सतत भक्ति का अभ्यास नहीं करता, वह धुंधले और अंधेरे पथ से प्रस्थान करता (गुजरता) है। उसे पुनः वापस आना पड़ता है और वह जीवन-मरण के चक्रों को बार-बार भुगतता रहता है।

## अध्याय-9

### भगवन् ! मेरी सारी क्रियाएँ आपको समर्पित हों

इस अध्याय को 'राजयोग' की संज्ञा आचार्यों द्वारा दी गई है - अर्थात् परमात्मा की ओर अग्रसर करनेवाला राजमार्ग। इसका प्रधान संदेश यह है कि साधक को समस्त कर्मों का अर्पण करते हुए भगवान के शरण में जाना है। उदाहरण के रूप में यदि हम जिह्वा चापल्य के कारण अपनी स्वाद-पूर्ति के लिये भोजन करें तो, वह कर्म हमारे मन में छिपी वासना के रूप में मुद्रित हो जाता है। यही वासना भविष्य में ऐसे ही कार्य में प्रेरित कर देती है, परिणाम स्वरूप वासनाप्रेरित इच्छाओं की पूर्ति के लिये दूसरे शरीर में पुनः जन्म लेना पड़ता है। इसके बजाय यदि हम मानसिक रूप से हृदयस्थित भगवान को अर्पण कर देते तब वह भोजन भगवान का प्रसाद बन जाता है। उसका प्रभाव विलक्षण होता है और अपने शरीर को परिशुद्ध कर लेता है। इसी तरह घरेलू स्त्री जो अपने पति तथा पुत्रों के लिये रसोई का काम करती है उस कर्म को भगवान को समर्पण कर, पति तथा पुत्रों को ही ईश्वरस्वरूप समझकर यदि सप्रेम भोजन करायेगी तो कभी उस काम से थकावट या घृणा नहीं उत्पन्न होगी। आप सरकारी नौकरी करें या किसी निजी व्यक्ति की संस्था में काम करें, अपने सभी कार्य कलापों को भगवान के कार्य (जो एकमात्र मालिक है) तथा भगवदिच्छा से प्रेरित समझना चाहिये। सारे परिणाम या कर्मफल को भी भगवान को अर्पित कर लें और उन्नति, प्रशंसा, वेतनवृद्धि इत्यादि के प्रति उपेक्षा या उदासीनता का भाव रखें। ऐसे कर्मों में नौकरी से घृणा या असन्तोष उत्पन्न होंगे ही नहीं। बल्कि सब कर्मों को एक दैवी उत्साहसहित सप्रेम तथा कुशलता के साथ निपट लेंगे।

“यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।

यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ (9-27)



“तुम जो कुछ करते हो, जो कुछ खाते हो, जो कुछ हवन करते हो, जो कुछ देते हो, जो कुछ तप करते हो, हे अर्जुन ! यह सब मुझे अर्पण करो।”

यह श्लोक एक ऐसी साधना केप्स्यूल (गोली) है जिसमें ईश्वर साक्षात्कार करने के लिये कई प्रभावशाली उपाय भरे हुए हैं।

यह समूचा जगत् जो भगवान के अव्यक्तरूप से व्याप्त है, उसके समस्त भूत-समुदाय को प्रकृतिनामक अपनी माया शक्ति से भगवान रचते हैं और उसका पोषण भी करते हैं।

इस बात को यदि समझा जाय, अपने सारे कर्मों को ईश्वरार्पण करना सरल हो जाता है। भगवान जब राम, कृष्ण आदि नाम लेकर मनुष्य रूप में अवतरित होते हैं, आसुरी गुणों से युक्त मूर्ख लोग उनका तिरस्कार करते हैं।

भक्त महात्मा लोग सदा ईश्वर की महिमा का गान करते हुए अपने इन्द्रियों को नियन्त्रित करने योग्य व्रतों का पालन दृढ़ रूप से करते हुए तीव्र भक्ति के साथ भगवान की उपासना करते हैं। सगुण साकार ईश्वर की पूजा भी तो बहुत सरल है क्योंकि भगवान को बहुमूल्य वस्तुओं के अर्पण से कोई मतलब नहीं। वे तो भक्तों की भक्ति की तीव्रता और उनकी भावनाओं को केवल देखते हैं। कोई पत्र, पुष्प, फल या जल भी भक्तिपूर्वक यदि अर्पण करें उसी से परम सन्तुष्ट हो जाते हैं।

“पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।  
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥” (9-26)

जो अन्य देवता परमात्मा से पृथक् मानी जाती हैं और मूढ़ जनों से आराधन की जाती हैं वे भी तत्त्वतः उस परमात्मा के ही सीमित रूप हैं। जब तक तत्त्वज्ञान से रिक्त लोग इन इतर देवताओं की उपासना पृथक् भावों से करते हैं तब तक उनको सीमित तथा तात्कालिक फल ही मिलेगा। ईश्वर साक्षात्कार चाहनेवालों को तो सारे समर्पण तथा उपासना उस अव्यक्त अक्षर परब्रह्म को ही करना पड़ेगा।

भगवान श्री कृष्ण असंदिग्ध वचनों में प्रतिज्ञा करते हैं कि जो भक्तलोग भगवान को सदा सर्वत्र व्याप्त अनन्त तथा अखण्ड सत्य मान कर भली भाँति उपासना करते

हैं और निरन्तर अनन्य भक्ति से उनका आराधन करने में लगे हैं उन पुरुषों का सारा योगक्षेम वे स्वयं वहन करते हैं। अर्थात् भगवान उन भक्तों का पूर्ण ध्यान रखते हैं और उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति जब तब कर लेते हैं। उन भक्तों को अपने तथा अपने से संबन्धित लोगों के शरीर पोषण के बारे में चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं होगी।

“अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।  
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥” (9-22)

बहुत बुरे आचरणवाले लोगों को भी भगवान आश्वासन दिलाते हैं कि यदि वे दुराचारी लोग भी अनन्यभाव से भगवान का सेवा-भजन करें तो उनके मन में भी धार्मिक भाव जाग उठेंगे और वे अन्ततः गत्वा परम शान्ति प्राप्त कर लेंगे।

जो साधक अपने प्रियतम प्रभु के चरणकमलों में आत्मसमर्पण करते हुए तैलधारावत् अविच्छिन्न भाव से परमेश्वर को अपना चरम लक्ष्य मानकर उनमें मनको एकाग्रता के साथ निविष्ट कर लें और भक्तिसहित भगवान् के शरण में जायें, वे अपने लक्ष्य को प्राप्त होते हैं।

“मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।  
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥” (9-34)

## अध्याय-10

### हर सृष्टि में ढूँढो भगवान की महिमा

इस अध्याय में भगवान के प्रति धारणा करने का एक उपाय कहा गया है जिसमें हम परमात्मा के वैभव को जगत् की हर सृष्टि में पहचान लें और विश्व के असंख्य वस्तुओं में व्याप्त परमात्मा का ध्यान करें। दिन रात ऐसे अनवरत ध्यान करने से समस्त जगत् को भी अपने आत्मा के रूप में देखने लगेंगे। इस उपाय से भगवान को आत्म समर्पण करते हुए शरणागत होना सुकर बन जाता है। सर्वात्मभाव को पाने के लिये हमारे चारों ओर उपस्थित जगत् में परमेश्वर के सान्निध्य को पहचानना ही प्रथम सोपान है।

भगवान ही हमारा अन्तिम उत्पत्ति स्रोत या मूल कारण है और सारी जगत् उनको ही केन्द्र बनाकर घूम रही है। सारे प्राणियों की उत्पत्ति उन्हीं से होती है और उनमें ही वे विलय हो जाते हैं। सुख, दुःख, क्षमा, सत्य, तपस्या, भय, अभय आदि सारी सकारात्मक तथा नकारात्मक मनोवृत्तियाँ उस परमात्मा से ही उत्पन्न होती हैं क्योंकि उनके प्रकाश के प्रतिफलन से ही इन सब भावों का भान होता है। इस तरह तीव्र भक्तिभाव से तथा प्रेमयुक्त चेतना के साथ यदि निरन्तर भगवान् का ध्यान करें, परस्पर मिलकर परमात्मा की चर्चा करें और भगवान् की ही लीलाओं का नित्य निरन्तर कथन करते आनन्दनिमग्न हो जायें तो भगवान् की दया से ऐसा बुद्धियोग मिल जायेगा जिससे जगत् के सारे वस्तुओं में, पिरोये हुए मणियों में अन्वित सूत्र जैसे, अन्तर्यामी भगवान का दर्शन हो जाता है। तब हमारी सारी दृष्टि में एक आश्चर्यजनक परिवर्तन हो जाता है।

“मच्चित्ता मद्गत प्राणा बोधयन्तः परस्परम्।

कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥” (10-9)

पशु, पक्षी, स्थावर जंगम आदि विविध वर्गों की सृष्टि के बीच हर एक वर्ग के सर्व प्रधान या सर्वश्रेष्ठ वस्तु, प्राणी या व्यक्ति में भगवान की विभूतियों का सम्यक् दर्शन मिल जाता है। उदाहरण के रूप में इन्द्रियों में भगवान मन है; ज्योतियों में सूर्य हैं, शिखरों से सुशोभित पर्वतों में सुमेरु हैं, सरोवरों में सागर हैं, यज्ञों में जप हैं, स्थावरों में हिमालय हैं, मृगों में सिंह हैं, बहनेवाली नदियों में गङ्गा जी हैं। यह जो सारी सृष्टि हैं, उसका आदि अन्त और मध्य भी परमात्मा के बिना कुछ नहीं है और उनके बिना किसी की सत्ता नहीं है।

परमेश्वर ही सर्वसंहारक मृत्यु हैं। वही वाणी है, स्त्रियों की सुन्दरता, मेधा, स्मृति, धृति तथा क्षमा भी हैं।

देवताओं, मनुष्यों, ऋषियों, जड-चेतन वस्तुओं तथा मन की विविध वृत्तियों में जो भी विभूतियुक्त और श्रेष्ठ है उसमें भगवान की दिव्य महिमा की अभिव्यक्ति को सुन्दरता, आनन्द या अन्य कुशल गुणों के रूप में हम देख सकते हैं। किसी भी क्षेत्र में – जैसे क्रिकेट के खेल में या संगीत कला में यदि सब से श्रेष्ठ कोई व्यक्ति हो, उसमें अवश्य भगवान के तेज के विशेष अंश की अभिव्यक्ति समझनी चाहिये। इस जगत् के कण कण में भगवान उपादान कारण के रूप में व्याप्त है परन्तु सब से परे भी है। उपर्युक्त प्रकार से समस्त सृष्टि में ईश्वर भाव से यदि ध्यान का अभ्यास कर लें, वह अन्त में भगवान के साक्षात्कार तक हमें पहुँचायेगा।



## अध्याय-11

### अहा ! कैसा विराट दृश्य !

इस अध्याय में भगवान श्री कृष्ण अर्जुन के ऊपर अपनी अपार कृपा बरसा रहे हैं और धारणायोग्य अपने विश्वरूप को दिखा रहे हैं। जो भी साधक पिछले अध्यायों में निर्दिष्ट सभी साधनाओं को श्रद्धा तथा पूर्ण विश्वास के साथ अभ्यास कर चुका हो वह उस स्थिति पर पहुँच जाता है जिससे कि भगवत्कृपा के कारण सगुण साकार तथा समस्त विश्व में अन्तर्यामी के रूप में व्याप्त भगवान के स्वरूप का साक्षात्कार उसे होने लगता है। ऐसे स्वरूप को देखने के लिये एक ऐसी विशेष तथा असाधारण दिव्य दृष्टि की आवश्यकता पड़ती है जो केवल अनवरत अध्यात्मिक साधनाओं से तथा विशेषतः भगवान की कृपा से ही उपलब्ध हो सकती है।

अर्जुन के समक्ष एक ऐसे अपरिमित तेज का पुंज प्रकट हुआ मानो आकाश में सहस्र सूर्यों की प्रभा एक साथ उदय हो गयी हो।

“दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।” (11-12)

भगवान के विश्वरूप में अर्जुन ने ब्रह्मादि विविध विचित्र देवता, मनुष्य, पशुपक्षी आदि भिन्न भिन्न वर्गों को उस विश्वव्यापी शरीर में एकत्रित देखा। उसे देखकर वह एक तरफ विस्मय की पराकाष्ठा पर पहुँचा पर दूसरी तरफ अत्यन्त भयभीत भी हुआ। सारे रूप लुप्त होते जा रहे थे। सभी मनुष्य जो अपने शरीर में आसक्त थे वे सब इस विश्वरूप के विकराल ढाढेवाले मुखों में चूर चूर होकर एक महाशून्य में विलीन होते जा रहे थे। आद्यन्तरहित एक अखण्ड रूप था जिसके हज़ारों सर्वभक्षक मुख तथा हज़ारों सर्वदर्शी नेत्र थे। उसमें कौरव, द्रोण, भीष्म आदि महारथी योद्धागण जो शारीरिक भोगों में आसक्त होकर भौतिकवाद में सने हुए थे, वे सब कालचक्र से कुचले जा रहे थे। अर्जुन के

सामने वह सर्वव्यापी भगवान है जो कालातीत (अतीत, वर्तमान तथा भविष्य से परे) तथा देशानवच्छिन्न है। इस सर्वव्यापक स्वरूप में, अच्छे बुरे, सुन्दर कुरूप, सुखदायक तथा भयानक-सारे विरुद्ध धर्म साथ साथ थे। अर्जुन इस रूप को देखकर भक्ति तथा आदर सहित भाव की पराकाष्ठा में स्थित हो जाता है और उसके मुँह से स्तुतियाँ निकलती हैं।

“हे सर्वरूप भगवन् ! आगे, पीछे सभी ओर से आपको नमस्कार हो। आप अनन्त शक्तियुत तथा अपरिमित महिमावाले हैं। आप सब में अभिन्न-निमित्तोपादान कारण के रूप में व्याप्त हैं।

“नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।

अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥” (11-40)

यह सुन्दर स्तुति भगवान के सान्निध्य को हमारे चारों ओर आवाहित करने के लिये ध्यान तथा मनन करने योग्य है। ऐसे विलक्षण दृश्य का अधिकारी साधक तभी बन सकता है जब जगत् की सारी वस्तुओं को ईश्वर के साथ एक समग्रभाव से संबन्धित करके उन से एकाग्र तथा अनन्य भक्ति करेगा।

इस अध्याय को केवल बुद्धि से समझना असंभव है। पिछले अध्यायों में वर्णित आध्यात्मिक साधनाओं में निष्ठित होकर अर्जुन के साथ तादात्म्यभाव से उसकी मन की परिस्थिति तथा भावों को अपनाकर उसी रसमें डूबते हुए इन स्तुतियों का पाठ करें तब हमें भगवान के ऐसे अलौकिक विश्वरूप को आँखों में आँसू बरसाते हुए दर्शन करने का सौभाग्य मिलेगा। हमारे भी रोंगटे खड़े हो जायेंगे और मन पूर्णतया परिशुद्ध हो जायगा।

आचार्य शंकर के अनुसार, इस अध्याय का अन्तिम श्लोक सारी गीता का निचोड़ है। भगवान् के साक्षात्कार के लिये करने योग्य समस्त साधनायें इस में उल्लिखित हैं:-

1. कर्म करना हो तो, भगवान को अर्पण करके, भगवान के लिये करो और कर्मफल से अनासक्त रहो।
2. भगवान का अनवरत स्मरण करो। भगवान को आश्रय मानकर अपने समस्त प्रेम, सेवाभाव तथा कामनायें भगवान पर ही केन्द्रित करो।

3. दुनिया में किसी वस्तु, विषय या व्यक्ति से आसक्ति मत करो।
4. किसी के प्रति द्वेष, घृणा या शत्रुता का भाव मत रखो। कोई हमारे प्रति अपराध करें या द्वेष करें उनको क्षमा कर दो और उनके योगक्षेम के लिये भगवान से प्रार्थना करो। आन्तरिक सामरस्य तथा शान्ति के लिये बाह्य वातावरण से सामरस्य रखना पड़ेगा। जब तक राग या द्वेष है मन क्षुब्ध रहेगा और भगवान का ध्यान नहीं संपन्न होगा।

“मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।

निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥” (11-55)

## अध्याय-12

### भगवन, मुझे आप ही चाहिये

एक साधारण साधक को सगुण साकार विराट भगवान की कल्पना के आधार पर साधना का प्रारम्भ करना सुलभ-साध्य होता है। निर्गुण, निराकार, अव्यक्त अक्षर परमात्मा की कल्पना तथा उपासना श्रम साध्य है। अन्ततो गत्वा अक्षर, निर्गुण, निराकार सर्वव्यापी अखण्ड परब्रह्म परमात्मा ही एकमात्र सत्य है जो व्यक्त तथा अव्यक्त सृष्टि का अधिष्ठान है। परन्तु वह प्रभु जिसको किसी भी नाम या रूप में हम उपासना करें और भक्ति करें उसी नाम या रूप में प्रकट होते हैं। सगुण उपासना सरल है परन्तु उसकी पूर्ति निर्गुण परब्रह्म में ही होती है। सगुण तथा निर्गुण एक ही सिक्के के दो पहलू हैं—“अगुण हि सगुण हि न हि कछु भेदा”। सगुण ईश्वर, भगवान के शक्तिभूत प्रकृतिरूप माया से प्रतिबिम्बित अव्यक्त निराकार अक्षर परमात्मा ही है।

ये दोनों मार्ग एक ही लक्ष्य की ओर ले जानेवाले हैं। एक ही परमात्मा सभी के हृदयों में सन्निविष्ट हैं। सगुण उपासना में हमारी सभी इन्द्रियों को भगवान की उपासना में ही नियुक्त करते हैं परन्तु निर्गुण उपासना में सारी इन्द्रियों को नियन्त्रित या निरोध करना पड़ता है। दसवें अध्यायतक अक्षर, निर्गुण, निराकार, सर्वव्यापी परमात्मा की उपासना का वर्णन हुआ परन्तु श्रीकृष्ण ने उसके उपरान्त अर्जुन को अपने विश्वरूप का दर्शन कराया। अर्जुन ने यह प्रश्न उठाया कि निर्गुण, निराकार, अव्यक्त अक्षर की उपासना करनेवाला श्रेष्ठ है या सगुण साकार विराट की उपासना ठीक है।

भगवान की कृपा का द्वार खोलने की कुंजी है भगवान के प्रति हृदयपूर्वक अनन्य भक्ति। भगवान श्री कृष्ण के मत में जो भगवान के रूप में (चाहे सगुण हो या निर्गुण हो) अटूट श्रद्धा और निष्ठा सहित एकाग्र चित्त से भक्ति करें और उपासना करें वे ही योगियों में श्रेष्ठ हैं। जो कोई ज्ञानी अव्यक्त अक्षर निर्गुण परमात्मा की उपासना



करें वे भी इतर सगुण भक्तों के समान उसी लक्ष्य पर पहुँच जाते हैं परन्तु देहाभिमानी साधकों के लिये यह पथ कठिन और श्रम साध्य होता है जिसके कारण अधिक परिश्रम करना पड़ता है।

सगुण साकार उपासक भक्त समस्त कार्य कलापों को अपने लिये नहीं परन्तु अपने प्रियतम भगवान के लिये ही करते हैं। जो निराकार अक्षर परब्रह्म के उपासक हैं वे सदा समस्त प्राणियों के हितकर और अनुकूल निःस्वार्थ कामों में लगे रहते हैं (सर्वभूत हिते रताः)

साधक को अपना मन तथा बुद्धि दोनों को भगवान के सुपुर्द कर देना चाहिये। अर्थात् अपनी बुद्धि के सोच-विचार को छोड़कर अपनी बुद्धि को भगवान की गोद में सुला दें (अपने मन-बुद्धि का सन्निवेश भगवान में बना रहे)। अर्पण के समकाल ही भगवान में निवास करना लगेगा।

“मय्येव मन आधस्व मयि बुद्धिं निवेशय।

निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥” (12-8)

यदि उपर्युक्त प्रकार मन-बुद्धि को भगवान को समर्पण नहीं कर सकते हैं तो बार बार अपने मन को समझाने का अभ्यास करें ताकि मन भगवान में ही निवास करना सीख लें। यदि मन-बुद्धि के समर्पण का अभ्यास भी नहीं बनता है तो सारे कर्मों को भगवान के लिए ही निःस्वार्थ भाव से करते रहें। तब अन्तःकरण की शुद्धि हो जायगी। यदि सारे कर्म ईश्वर के लिये करना भी कठिन मालूम पड़े तो सारे कर्तव्य तथा कर्मकलापों को उनके फल तथा परिणाम की प्रतीक्षा किये बिना करते रहें।

ज्ञानरहित अभ्यास से सगुण ईश्वर के प्रति मन बुद्धि के समर्पण का ज्ञान श्रेष्ठ तर है। परन्तु इस ज्ञान से ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यान से कर्मफल का त्याग श्रेष्ठ है। यद्यपि पहले श्री कृष्ण ने कर्मों के फलत्याग को एक चौथा उपाय के रूप में कहा था, अब उसीको प्रथम नींव के रूप में उल्लेख कर रहे हैं और उसको ध्यान तथा (सगुण के) ज्ञान से भी श्रेष्ठतर समझा रहे हैं। इस से शान्ति मिल जायगी। शंकराचार्य के गीताभाष्य के अनुसार निराकार निर्गुण ब्रह्म के उपासक को कर्मयोग उपयुक्त नहीं है (क्यों कि वह भगवान को आत्मा के रूप में देखता है)। इसी तरह कर्म में निरत कर्मयोगी को अव्यक्त

अक्षर ब्रह्म की उपासना दुःसाध्य है क्योंकि कर्मयोग द्वैतदृष्टि पर आधारित है और पूर्ण आत्म साक्षात्कार के साथ इसका सीधा सम्बन्ध नहीं है।

भगवान श्रीकृष्ण अब कुछ ऐसे लक्षणों या गुणविशेषों का वर्णन करते हैं जो (शंकर के मतानुसार) अव्यक्त अक्षर परमात्मा के उपासकों को मोक्ष पहुँचाने के प्रत्यक्ष साधन हैं। परन्तु अनेक व्याख्याता इनको भक्ति मार्ग के अनुयायियों के ही लक्षण मानते हैं।

यह तो स्वीकार करना पड़ेगा कि इनमें अधिकांश लक्षण द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत स्थितप्रज्ञ के लक्षणों से तथा चौदहवें अध्याय में वर्णित गुणातीत के लक्षणों से भी मिलते-जुलते हैं। अतः जो भी ईश्वर साक्षात्कार का इच्छुक हो, वह चाहे कर्म, ज्ञान, भक्ति आदि किसी मार्ग का भी अनुयायी हो, उसको निम्नवर्णित सारे गुणों को अपनाना अनिवार्य है:-

1. किसी प्राणी से द्वेष या घृणा न करना है। सब के ऊपर स्नेह की वर्षा करो, दीन दुःखियों के ऊपर करुणा करो पर बिना ममता के, निःसङ्ग होकर।
2. अहङ्कार का त्याग करो (अहं की कार पर मत बैठो)
3. सुख या दुःख से प्रभावित मत होना। समभाव रखो।
4. सहनशक्ति तथा क्षमा का अभ्यास करो और सदा संतुष्ट रहो।
5. स्थिरबुद्धि से प्रयत्न करते रहो।
6. अपने मन तथा बुद्धि को भगवान को समर्पण कर दो।
7. किसी को तिरस्कार या उद्विग्न मत करो और किसी के व्यवहार से खुद उद्विग्न मत हो जाओ। याद रखो कि तुम्हारे अलावा तुम्हारे मन को कोई विचलित नहीं कर सकता।

“यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।

हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥” (12-15)

8. किसी भी बाहरी स्रोतों से किसी चीज़ की अपेक्षा न रखो “मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई”। हम सब की यात्रा पूर्णता की ओर है। इसलिये जो भी काम करोगे उसे पूर्ण कुशलता के साथ करो।
9. जो जो घटनायें जीवन में होती हैं सब विश्वरचयिता के नाटक के अङ्ग हैं और उनके प्रति उदासीन रहो। सारी घटनायें ईश्वरेच्छा से प्रेरित हैं और उनसे दर्द या दुःख महसूस करने की आवश्यकता नहीं है। जो कुछ ईश्वर की इच्छा से होती है वह सब हमारी भलाई के लिये ही है।
10. फल प्राप्ति के लिये किसी नये कर्म का आयोजन मत करो। भगवान ने अन्य लोगों का उद्धार करने या उपदेश देने का ठेका आपको नहीं दिया है। अपनी आध्यात्मिक प्रगति की ओर ही ध्यान दो और जब जीवनमुक्त बनोगे उसके बाद समस्त प्राणियों के हितकारी कार्यों में लग जाओ।
11. अच्छा-बुरा, सुख-दुःख, आशा-निराशा इन सब द्वंद्वों से ऊपर उठ जाओ।
12. शत्रु-मित्र, मान-अपमान, गर्मी-सर्दी, निन्दा-स्तुति, सुख-दुःख-इनके प्रति सम भाव बरतना।
13. भगवान के अलावा किसी के प्रति आसक्ति मत रखना। जहाँ तक हो सके, मौन रहो। जो मिल जाय, उसीसे खुश रहो। ज्यादा अच्छी चीज़ों के लिये या ज्यादा परिमाण के लिये प्रयत्न मत करना। भगवान को अपना एक मात्र शरण मानकर उस लक्ष्य पर अपने मन को स्थिर रखो। उपर्युक्त गुणोंवाले भक्त भगवान के परम प्रेमपात्र बनते हैं। इन गुणों की संज्ञा भगवान के शब्दों में “धर्म्यामृतं” है – अर्थात् धर्मानुकूल अमृत है। यदि इन गुणों में किसी एक को भी अपने जीवन में उतार दें तो शेष सारे गुण भी अपने आप आ जायेंगे।

## अध्याय-13

### आत्मा का लीलाक्षेत्र

श्री कृष्णप्रेम महाराज (रोनाल्ड निक्सन) के अनुसार गीता को छह छह अध्यायों के तीन षट्कों में विभाजित कर सकते हैं।

1. 1 से 6 अध्यायतक : शुद्धिमार्ग - अर्थात् साधारण साधक सूक्ष्मतमज्ञान को ग्रहण करने योग्य अपने आप को कैसे संस्कृत कर लें (त्वं पदार्थ का निरूपण)
- 7 वाँ से 12 अध्याय तक : परमात्मा का स्वयंप्रकाश से मार्ग दर्शन (तत् पदार्थ की सिद्धि)
- 13 वाँ से 18 अध्याय तक : तादात्म्य की पद्धति (असि पदार्थ का निरूपण)
- 13 वाँ अध्याय का प्रारम्भ आत्म-अनात्म विचार, क्षेत्र (शरीर)-क्षेत्रज्ञ (जीव) विचार, प्रकृति-पुरुष विचार और विषय-विषयी विचार से होता है। इस तरह आत्मवस्तु और अनात्मवस्तुओं का विचार करने से ही इस संसार से वैराग्य पाकर अपने कर्मफलों पर आसक्ति का त्याग करना सरल होता है। इस अध्याय में एक साधारण मनुष्य के दैनिकजीवन में सफलतादायक आधारभूत 20 अंशों की एक बीस-सूत्री दी गयी है। जबतक इन बीस गुणों को जीवन में उतारकर अनवरत आध्यात्मिक साधना न की जाय, तब तक मन की आसुरी वृत्तियों का समूल नाश करके आत्मसाक्षात्कार की ऊँचाइयों पर पहुँच न सकेंगे। ये बीस मूलसिद्धांत या गुण एक साधारण मनुष्य की आत्मोन्नति हेतु अपनी आन्तरिक जीवनशक्ति का पूर्ण विकास करके समाज में इतर व्यक्तियों के साथ परस्पर संपर्क को अत्यन्त प्रभावशाली तथा आनन्दजनक बनाने में समर्थ हैं। सारी गीता शाश्वत आनन्द की ओर अपने जीवन चलाने का मार्ग निर्दिष्ट करती है।



शरीर ही एक क्षेत्र (जमीन) है जहाँ दैवी सम्पत्तिरूपी (16 वाँ अध्याय में यथा वर्णित) श्रेष्ठ बीजों के उगने से समस्त दुःखों तथा कष्टों के कारणभूत दोषों का हम निवारण कर सकते हैं। क्षेत्रज्ञ (जीव) ही एक माली हैं जो इस क्षेत्र को सम्यक् रूप से जानते हैं। यह शरीर तथा समस्त दृश्यजगत् अनात्मा है और उसके अन्दर विद्यमान समस्तकार्यों की प्रेरक शक्ति ही आत्मा है। उदाहरणस्वरूप एक कारखाने के वर्कषाप में कई तरह के मशीनें हैं (शरीर तथा जगत् के समान) जो विविध प्रकार के काम करनेवाले हैं। परन्तु एक ही विद्युत्शक्ति है जो समस्त मशीनों में चलती हुई विविध काम करती है (क्षेत्रज्ञ के समान)। शरीर इस क्षेत्रज्ञ से भिन्न है और एक ज्ञेय विषय है। जीवात्मा (क्षेत्रज्ञ) तो साक्षात् भगवान् ही है या भगवान् का ही अंश है (“ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः-15-7)। भगवान् ही माया या प्रकृति के रूप से समस्त जगत् के विषयों का उपादान कारण बनते हैं। वही जगत् के निमित्तकारण के रूप में पुरुष कहलाता है।

हम शरीर नहीं हैं। शरीर केवल साधन है पर साध्य नहीं है।

हमारे अनुभव के विषय क्षेत्र को 24 मूल तत्त्वों में विश्लेषण किया गया है:- पृथ्वी, जल, वायु आदि पञ्चमहाभूत, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध-ये पाँच इन्द्रियों के विषय, मन-समेत ग्यारह इन्द्रियाँ, अहङ्कार, बुद्धि और समस्तनामरूप के जगत् का उद्भवस्थान अर्थात् अव्यक्त मूल प्रकृति। इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, चेतना, धृति, इन्द्रियों समेत शरीर तथा उपयुक्त 24 मूलतत्त्व ये सब 'क्षेत्र' अर्थात् आत्मा का क्रीडास्थल है।

दैनिक जीवन में प्रकाश लाने के लिये आवश्यक बीससूत्री गुण निम्नवर्णित हैं:-

### 1. अमानित्व (अभिमानराहित्य)

अपने अपने अभिमान के कारण ही दूसरों से संघर्ष होता है और फलस्वरूप दुःखी भी हो जाते हैं।

### 2. अदम्भित्व (दम्भहीनता)

यदि हम कुछ अच्छे कार्य केवल दूसरे लोगों के ऊपर अपना प्रभाव डालने के लिये - दिखावे के लिये - करें तो वे निष्प्रयोजन हो जायेंगे।

3. **अहिंसा** - 'मनसा वाचा कर्मणा' इतर प्राणियों को हिंसा नहीं पहुँचाना।
4. **क्षान्ति (क्षमा)** - किसी के प्रति मन में कदापि द्वेष या शत्रुता का भाव उत्पन्न न हो। जो हमसे अपराध करें उन्हें तुरन्त क्षमा कर देना है। नहीं तो ऐसे द्वेषभाव हमारे शरीर में कई तरह के मन-शरीर संबन्धित बीमारियों को उत्पन्न कर देंगे और हमारा मन भी अशान्त रहेगा।
5. **आर्जव (सरलता)** - यदि हम दूसरे लोगों से छल-कपट का व्यवहार करें और मन, वाणी और कर्म की एकरूपता न रहे तो सब के अप्रिय बनेंगे।
6. **आचार्योपासनं** - आचार्य की उपासना
7. **शौचं (शुद्धता)**  
बाहर से प्रक्षालन, स्नान आदिसे अपने आपको शुद्ध रखना चाहिये। आन्तरिक रूप से क्रोध द्वेष आदि नकारात्मक प्रवृत्तियों से बचना चाहिये।
8. **स्थिरता**  
किसी भी काम या साधना में स्थिरता के साथ मन की चंचलता को रोक कर लगे रहें तो जीत हस्तगत है।
9. **आत्म-निग्रह** - एक मनुष्य को अपने इन्द्रियों के आकर्षण के वशीभूत होकर विषयों का दास नहीं बनना चाहिये। निद्रा, भोजन आदि में यदि अनियमितता हो तो बीमारियाँ उत्पन्न होंगी और आध्यात्मिक उन्नति भी बाधित होगी।
10. **इन्द्रियों के विषयों में वैराग्य**
11. **अहंकार का अभाव**  
अहंकार का अस्तित्व प्रधानतः कर्ता के रूप में तथा भोक्ता के रूप में ही प्रकटीकृत होता है। किसी भी कर्म करते समय उससे लिप्त न होकर बार बार सोचना चाहिये:- “मैं कर्ता नहीं हूँ और न तो भोक्ता। सब विश्व के रंग मंच में घटित होते हैं। ईश्वर की इच्छा से प्रेरित होकर मेरे समस्त इन्द्रिय अपने अपने कार्यों में लगे रहते हैं”। इस तरह के विचार से मन की शान्ति बनी रहेगी।

12. किसी साधक को इस दृश्य जगत के जीवन में जो दोष हैं-उदाहरणार्थ जन्म, मरण, वृद्धावस्था, शारीरिक अस्वस्थताएँ, कई प्रकार के दुःख-उन पर बारम्बार विचार करना चाहिये।

13. असक्ति - अपने पुत्र-भार्या-गृह आदि में निर्लिप्तता।

14. पक्षपातराहित्य - अपने पुत्र-भार्या-गृह आदि में तादात्म्यभाव न रखना।

15. नित्य समचित्तता

घटनाएँ हमारे मन के अनुकूल हो या प्रतिकूल हो दोनों अवस्थाओं में मन को समान रखना।

16. अव्यभिचारिणी भक्ति - सर्वेश्वर में ऐकान्तिक भाव से अचंचला भक्ति हो।

17. एकान्त सेवन

कभी कभी लोकव्यवहारों में पूर्णरूप से लिप्त गृहस्थों को भी किसी एकान्त स्थान में जाकर मौन में रहना चाहिये। इस से अन्दर की तनाव निकल जाती है और उनको वापस आकर अपने कार्यभारों के संभालने में कार्यकुशलता बढ़ जाती है।

18. जनसमुदाय से दूर रहना

जहाँ जहाँ बहुत लोग एकत्रित हो जाते हैं वहाँ जाना ही अप्रिय लगना चाहिये। नहीं तो ज्ञान के अर्जन करने में यह बाधक सिद्ध होगा।

19. अध्यात्मज्ञान में नित्य निष्ठा - अध्यात्मज्ञान में एक अविच्छिन्न स्थिति

20. तत्त्वज्ञान का अर्थ दर्शन

आत्मविषयक तत्त्वज्ञान ही जीवन का प्रयोजन है। इस अमूल्य जीवन को अज्ञानान्धकार में बिताकर नष्ट नहीं करना चाहिये। इसपर हमारी दृष्टि होनी चाहिये।

इन गुणों की उपलब्धि का ही मार्ग विश्व के प्रभु बनने का मार्ग है। इन गुणों की उपलब्धि पर इस तत्त्व का भास हो जायेगा कि जगत् के सारे विषय शुद्ध चित्त के प्रकाश से ही प्रकाशित होते हैं और सब अनात्म वस्तु हैं।

अन्ततो गत्वा उस परब्रह्म परमात्मा का, जिसको न सत् कहा जा सकता न असत् पूर्णज्ञान तक हम प्राप्त कर सकेंगे। वही सारे प्राणियोंके उपादान कारण है और उसके सान्निध्य की महिमा ही उन प्राणियों को कर्मों में प्रेरित कर देती हैं। इसीलिये सर्वत्र उसके ही पाणि-पाद हैं, सर्वत्र उसके ही आँख-सिर-मुख हैं। समस्त आकाश में समस्त प्राणियों में व्याप्त है। समस्त प्राणियों के समस्त इन्द्रियों के कार्यों द्वारा वह प्रकाशित होता है पर स्वयं इन्द्रियरहित है। सब से निर्लिप्त होते हुए भी सब का अधिष्ठान है। सब को ढककर स्थित हैं। सूर्य आदि ज्योतियों का भी ज्योति (प्रकाशक) है। स्वयं इन्द्रियरहित होकर भी समस्त इन्द्रियों का प्रेरक है। वह चर अचर समस्त सृष्टियों के अन्दर बाहर सर्वत्र हैं परन्तु मन और इन्द्रियों की ग्रहणयोग्यता के परे हैं। इसके परम सूक्ष्म होने के कारण कोई इसे सुलभता से जान नहीं सकते। यही विविधता में एकता है।

“बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।

सूक्ष्मत्वान्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्। 13-15)

पुरुष तथा उनकी मायाशक्तिरूपा प्रकृति दोनों अनादि हैं। प्राणियों के शरीर, इन्द्रिय तथा उनके गुण (सुख, दुःख, राग आदि) इन सभी की उत्पत्ति प्रकृति से हुई है। प्रकृति के सम्पर्क से सत्व रज आदि प्रकृति के गुण पुरुष को प्राप्त होते हैं और उसी कारण कर्म में प्रेरित करनेवाली प्रबल इच्छाओं के वशीभूत, उच्च नीच पशु पक्षी का जन्म लेना पडता है। शरीर में आसक्ति तथा उससे तादात्म्यभाव ही पुनर्जन्म और उसके परिणामभूत दुःखों का तथा कष्टों का मूल कारण है।

साधना:- (1) उपरि कथित तथ्यों पर अनवरत चिन्तन से अपने देहात्मभाव के निवारण से अपने आप को देह से पृथक् करके निर्वाणप्राप्ति हो जायगी। अथवा, विचार-ज्ञान पर आधारित साँख्ययोग के मार्ग से (दूसरे अध्याय में विस्तरित) ध्यान आदि साधनोंसे या तृतीय चतुर्थ पञ्चम अध्यायों में वर्णित कर्मयोग द्वारा भी इस स्थिति की प्राप्ति हो सकती है।

(2) सारी सृष्टि (चर, अचर) क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ के संयोग का ही फलस्वरूप है। परमेश्वर ही क्षेत्रज्ञ के रूप में द्रष्टा होकर क्षेत्र के रूप में स्वयं दृश्य बन जाता है। यदि किसी को यह ज्ञान हो जाय कि वही परब्रह्म परमात्मा समस्त भूतप्राणियों में, शरीरादि



के नष्ट होते हुए भी हर क्षण बदलते दृश्य के बीच, अविनाशी रूप में अपरिवर्तित स्थित होते हैं, वही सच्चा द्रष्टा है।

“समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।

विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥” (13-27)

ऐसे मनुष्य को कभी कर्तापन का अभिमान ही नहीं होगा क्योंकि वह जानता है कि सारे कार्य जगत् में प्रकृति के द्वारा ही सम्पन्न होते हैं और स्वयं कुछ नहीं करता। अतः अक्षर परब्रह्म परमात्मा शरीर में साक्षी चैतन्य रूप में केवल रहते हुए पूर्णतया निष्क्रिय, निर्लिप्त और कलंकरहित हैं।

**साधनाः**:- इस ज्ञान द्वारा कोई भी साधक अपने आपको शरीर से पृथक् कर सकता है और आत्मसाक्षात्कार के सोपानतक पहुँच सकता है। यह भी एक साधना का मार्ग है।

## अध्याय-14

### त्रिविध आधार स्तंभ

यह अध्याय 13वाँ अध्यायका पूर्तिकारक है। हम सब के सब तीन प्रकार के आधारस्तंभों के ऊपर निर्मित किए गये हैं जिन्हें ‘गुण’ कहे जाते हैं। हमारे स्वभाव तथा मानसिक संघटन इन तीन गुणों के अनुपातों से ही निर्धारित किये गये हैं। ये ही मनुष्य को बाँधनेवाली शक्तियाँ हैं। यद्यपि सभी मनुष्य समान शरीर-मन-संघातयुक्त हैं तब भी मनुष्य और मनुष्य में जो भिन्नताएँ दीख पडती हैं उनका कारण ये ही गुण हैं। ये है:-

1. **सत्त्व गुण** :- यह प्रकाश, समरसता, और अच्छे गुणों को बढ़ाता है
2. **रजोगुण** :- यह मनुष्य को अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिये कई कर्मों में प्रेरित करता है और फलस्वरूप काम, क्रोध आदि की भी उत्पत्ति होती है।
3. **तमोगुण** :- मनुष्य को आलस्य तथा प्रमाद (असावधानी) में आसक्त करा देता है और बाँध लेता है।

यद्यपि आत्मा स्वतन्त्र और निर्लिप्त है, शरीर-मन के अन्तःस्थित गुणों के मिश्रण के कारण बाँधा हुआ जैसा दिखाई पडता है। आत्मा को शरीर से पृथक् करने का एक उपाय है कि हम को इन गुणों के स्वभाव का विश्लेषण करके, उनके ऊपर काबू पाना। यदि हम आत्मा को अपने गुणों से तथा शरीर से पृथक् कर सकें तो हम त्रिगुणातीत अवस्था पर तथा उस परब्रह्म परमात्मा को क्रमशः पहुँच पायेंगे। जो अपने शरीर और मन को जीतेगा, वह जगत् पर शासन करेगा। प्रकृति, जो भगवान की विक्षेप शक्ति है, इन तीन गुणों से ही बनी जाती है। समस्त सृष्टियाँ प्रकृति से ही उत्पन्न होती है।

लोगों के बीच एक गलत खयाल है कि सत्त्वगुण से कोई हानि नहीं हो सकती। सत्त्वगुण अनात्मविषयसुखों से बाँधता है। सत्त्वगुणी व्यक्ति यद्यपि सुखी नहीं है फिर

भी अपने आप को सुखी समझने लगता है। शास्त्रों में आसक्ति, तर्क-वितर्कों में लगे रहने में रुचि और ज्ञान का अभिमान ये सब सत्वगुण का ही परिणाम है। रजो गुण, विविध अभिलाषाओं की पूर्ति के लिये मनुष्य को विविध कर्मों में आसक्त कराकर बाँध लेता है। तमोगुण तो निद्रा, आलस्य प्रमाद द्वारा बाँध लेता है। एक समय में एक मनुष्य में किसी एक ही गुण की प्रधानता रहेगी।

### प्रधान गुण को कैसे पहचाना जाय ?

जब समस्त शरीर ज्ञान के प्रकाश से प्रज्वलित हो जाता है और शरीर के एक-एक छिद्र से वह प्रकाश निकलने लगता है, तब समझना है कि वहाँ सत्वगुण का आधिक्य है।

जहाँ भी, लोभ, कामना-प्रेरित कर्म तथा अशान्ति है, वहाँ रजोगुण का आधिक्य है।

जहाँ भी, आलस्य, प्रमाद और मोह है वहाँ तमोगुण की प्रधानता है। रजो गुण और तमो गुण दुःख तथा अज्ञान में पहुँचाते हैं। सत्व गुण के परिणाम स्वरूप पवित्र तथा अच्छे हितकारी कार्य हो जाते हैं और वह ज्ञान तक पहुँचा देगा। तमः प्रधान लोग नीचे गिरते जाते हैं अर्थात् कीड़े-मकोड़े, जानवर, वृक्ष आदि योनियों में चले जाते हैं।

जब कोई साधक इन गुणों को ही कर्म के कर्ता समझता है, तब वह गुणातीत हो जाता है तथा जन्म मृत्यु जरा दुःखों से मुक्त हो जाता है। ऐसा गुणातीत पुरुष न तो ज्ञान, कर्म के लिये तरसता रहेगा न तो जब कर्म करना अनिवार्य होता है उस से घृणा या विद्वेष करेगा। ऐसे जीवन्मुक्त पुरुष, सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय मित्र-शत्रु, मान-अपमान व निन्दा-स्तुति में समान रूप से समत्व भाव से रहेगा। वह गुणों से अविचलित रहेगा और कोई नये उद्योग का प्रारम्भ नहीं करेगा। उसी को गुणातीत कहते हैं।

“मानापमानयोस्तुल्यः तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।

सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥” (14-25)

इस प्रकार हरेक गुण के लक्षणों को जानने से ही उन के बन्धनों से अपने आपको हम मुक्त करा सकते हैं।

### इन गुणों से हम अपने आपको कैसे बचावें।

आलस्य को कोई अवसर दिए बिना हमेशा सावधान रहने से ही तमोगुण से बच सकते हैं। शरीर-मन को अनवरत कामों में लगा रखना चाहिये।

कर्मयोग से अर्थात् फलासक्तिरहित कर्म करने से रजोगुण से बच सकते हैं।

सत्वगुण तो एक सोने का पिंजड़ा है। यद्यपि यह बहुत आकर्षक दिखाई देता है, तो भी बन्धन में डालनेवाला है।

सत्वगुण में भी अधिक आसक्त नहीं रहना चाहिये। उसके साथ भी तादात्म्यता को छोड़ना ही पड़ेगा। नाम, कीर्ति, जय आदि कामनाओंका त्याग करना होगा। निरहङ्कार होकर कर्मफलों की स्पृहा का त्याग करते हुए सर्वकर्मों को ईश्वरार्पण करना है। अन्ततः भगवान की कृपा की भी तो आवश्यकता है।

अविचला भक्ति ही एकमात्र साधन है जो हमें ईश्वर की कृपा पाने के लिये और अक्षर परब्रह्म के साथ तादात्म्य प्राप्ति के लिये उपयुक्त योग्यता प्रदान कर सकती है।



## मैं ही परमात्मा हूँ

गीता की समस्त साधनाएँ तथा सिद्धान्त इसी अध्याय में पूर्णता प्राप्त कर लेते हैं। 16वाँ तथा 17वाँ अध्याय तो इसके अनुबन्ध हैं। 18वाँ अध्याय सब का उपसंहार है। इस अध्याय में वेदसारभूत परमतत्त्व जिससे अपने चरम लक्ष्य के प्रति जागरण हो जाय, प्रकट किया गया है। इस अध्याय को बारम्बार पढ़ना और उसके अर्थ पर ध्यान लगाना ही एक पूर्ण साधना है। उत्तर भारत के अधिकांश आश्रमों में भोजन के पहले इस अध्याय को दुहराने की प्रथा आज भी है।

साधकों के अन्दर वैराग्य को जगाने के लिये इस दृश्यजगत् को एक उलटे (अर्वाक्-शिर) पीपल वृक्ष के प्रतीक से वर्णन किया गया है। इस अश्वत्थ वृक्ष का मूल, जो अव्यक्त परमात्मा है, ऊपर की तरफ़ है। समस्त जगत् का मूल कारण भगवान ही है। यह वृक्ष, विषयीकरण के विविध स्तरों में, नाम-रूप वाले प्राणियों की जगत्-सृष्टि के लिये अपनी शाखाओं को नीचे की तरफ़ भेज रहा है जहाँ कर्म का प्रारम्भ होगा। वृक्ष का रस है आसक्ति तथा इन्द्रिय-विषयों के लिये आशा। वृक्ष तो तीनों गुणों से पुष्टि पाता है और सारे विषय ही इनकी कोंपले हैं। यहाँ शुद्ध चित् के त्रिविध रूप का विश्लेषण है - (1) जीवात्मा के रूप में (2) विश्वात्मा के मूलप्रकृति के रूप में (3) अक्षर परब्रह्म परमात्मा के रूप में। यही एक निर्विकल्प तथा निर्गुण निराकार भगवान् का समस्त प्राणि सहित जगत् (सृष्टि) के साथ समन्वय है। परमेश्वर परमात्मा ही प्रकृति नामक अपनी मायाशक्ति द्वारा जगत् बने हैं। इस संसार बन्धन से विमुक्त होने का एक ही मार्ग है कि इस अर्वाक्-शिरवाले वृक्ष को असंगरूपी तलवार से काट दिया जाय।

हर साधक को अहंकाररहित होकर, अपनी समस्त कामनाओं के त्याग से असंग बनकर, सुख-दुःखादि द्वंद्वों से विमुक्त होकर रहना चाहिये।

“निर्मान मोहा जित सङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।  
द्वंद्वैर्विमुक्ताः सुख दुःख संज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥” (15-5)

ऐसे ही साधक परब्रह्म के पद पर पहुँच सकते हैं।

जब हम इस परमात्मा को अनवरत परिवर्तनशील इस जगत् के पीछे स्थित अधिष्ठान भूत सत्य के रूप में जान पाते हैं, तभी भगवान् के प्रति अपार प्रेम तथा उनके साक्षात्कार के लिये एक अदम्य उत्कण्ठा उत्पन्न हो जाती है। प्रकृति द्वारा नाम रूप के साथ प्रकट होनेवाला भी तो परमेश्वर ही है। परन्तु जिसका मन शरीर की आसक्ति के कारण विक्षिप्त है वह भगवान् को देख नहीं पायेगा।

निराकार, सनातन, परब्रह्म ही अनादि अविद्या से जीव बन जाता है। यह जीव पुनः पुनः जन्म लेता रहता है और अपने पुराने शरीर का त्याग करके एक नये शरीर को स्वीकार करता है।

इस तरह एक शरीर से दूसरे शरीर में चलते समय जीव के साथ ही समस्त ज्ञानेन्द्रिय मन-सहित चले जाते हैं। मन के आधार पर, आँख, श्रोत्र, घ्राण आदि इन्द्रियों द्वारा जीव ही जगत् के सारे विषयों का भोग करता है।

जो योगी सावधान रहते हैं वे ही अपने हृदयकमल में विराजमान भगवान् को अपने आत्मा के रूप में देख पाते हैं। वही परमात्मा समस्त विश्व में व्याप्त होकर सूर्य-चन्द्र को प्रकाश प्रदान कर प्रकाशित करते हैं और समस्त प्राणियों का पोषण करते हैं। वही समस्त भूतों के अन्दर वैश्वानराग्नि के रूप में स्थित होकर, अपनी शक्ति से पूर्ण पञ्च प्राणों की सहायता से, सब प्रकारके अन्न को पचाते हैं। भगवान् ही समस्त प्राणियों के हृदय में विराजमान होकर, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं के चैतन्य को प्रकाशित करते हैं। आत्मानुभव में आधारित वेद के समस्त सिद्धान्तों को परमात्मा ने ही प्रकट किया है:-

“सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।  
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥” (15-15)

तेरहवाँ अध्याय में, भगवान श्री कृष्ण ने भगवान (पुरुष) तथा उनकी माया शक्ति (प्रकृति) को क्षेत्रज्ञ तथा क्षेत्र के रूप में वर्णन किया है। यहाँ श्री कृष्ण भगवान को एक दूसरे द्विविध रूप में दिखाते हैं - समस्त प्राणियों के नाशवान शरीर (क्षर) के अधिष्ठानभूत चैतन्य के रूप में तथा जीव (अक्षर) के पीछे अधिष्ठानभूत अव्यय चैतन्य के रूप में।

क्षर, अक्षर इन दोनों से विलक्षण है एक परब्रह्म परमात्मा जो समस्त विश्व में व्याप्त होते हुए उसका पोषण करते हैं (अर्थात् अभिन्ननिमित्तोपादान कारण)। उसे पुरुषोत्तम कहते हैं।

जगत् के कण कण में अन्वित होते हुए भी उस से परे भी हैं। जो इस दृश्य अनात्म जगत् के पंजे से अपने आप को छुड़ाकर माया से निकल जाता है वह भगवान को सर्वत्र देखने लगता है और उसे अपने शरीर-वाणी से आराधन करता है।

इस अध्याय में एक सर्वात्मभाव में अधिष्ठित साधना है जिसमें भगवान, जगत् तथा जीव तीनों का समन्वय है। इस अध्याय का परम्परागत नाम है-पुरुषोत्तम योग।।

## देव बनाम शैतान

यह अध्याय 15 का ही संपूरक अनुच्छेद है, जहाँ पुरुषोत्तम योग वर्णित किया गया है। परब्रह्म के साथ अन्तिम योग हो जाने से पहले ही साधक में कई दैवी गुण या संपत्तियों (26 संख्यक) का भान होने लगता है। केवल भौतिकवाद में सने हुए लोगों में तो आसुरी वृत्तियों का आविर्भाव और पोषण होने लागता है जब वे अपने नीच स्वार्थ पर आधारित इच्छाओं की पूर्ति तथा इन्द्रियों की अनन्त तृप्ति के लिये ही जीवन बिताने लगते हैं। हर साधक को ऐसी आसुरी वृत्तियों से बचकर रहना पड़ेगा। परमात्मा के दिव्य प्रकाश में प्रविष्ट होने से पहले इन आसुरी वृत्तियों से बचकर रहना पड़ेगा। परमात्मा के दिव्य प्रकाश में प्रविष्ट होने से पहले इन आसुरी वृत्तियों के साथ संघर्ष करना पड़ता है।

साधना के फलस्वरूप साधक में जिन दैवी संपदाओं का, आविर्भाव होता है उनकी सूची नीचे दी गयी हैं। आध्यात्मिक क्षेत्र में अपनी प्रगति को स्वयं जानने के लिये इनको एक माप-दण्ड या मानक समझा जा सकता है। हर व्यक्ति के मन में अपनी जीवन प्रणाली के निश्चायक इन दोनों तरह के गुणों के बीच एक युद्ध ही होता रहता है। यही महाभारत का युद्ध है।

तीव्र साधना के फलस्वरूप अभिव्यक्त होनेवाले दैवी गुण निम्नलिखित हैं:-

1. अभय
2. अन्तःकारण की शुद्धि- इस स्थिति में साधक झूठ, कपट आदि का पूर्ण त्याग कर देता है।
3. ज्ञानयोग तथा कर्मयोग में निष्ठा
4. दान
5. मन का नियन्त्रण ताकि मन को सांसारिक विषयों पर दौड़ने से रोका जाय



6. यज्ञ आर्थात् त्यागात्मक भाव से दूसरे लोगों के हितार्थ कर्म करना। जब कभी कोई दीन दरिद्रों को भोजन कराता है, नंगे बेचारों को कपड़ों का दान करता है या इस तरह की अन्य लोगों की जरूरतों की पूर्ति करता है उसे यज्ञ माना जायेगा।
7. शास्त्रों का स्वाध्याय
8. तपस्या (अध्याय 17 में व्याख्यात)
9. ऋजुता
10. अहिंसा
11. सत्य
12. क्रोध का अभाव
13. समस्त इच्छाओं तथा कर्मों का त्याग
14. मौन
15. दूसरों के दोषों पर ध्यान न देना
16. दुःखी प्राणियों के प्रति दया
17. संसारिक विषयों के प्रति आसक्ति का अभाव
18. मृदु स्वभाव
19. लज्जा (अनुचित काम करने में लज्जा)
20. चपलतारहित रहना
21. क्षमा- यदि कोई अपराध करे तो क्षमा कर देना
23. धृति-अर्थात् संघर्ष तथा विघ्नों के सामना करने की शक्ति
24. शौचम्-बाहरी तौर से शरीर की स्नान आदि से शुद्धि तथा कपट, धोखेबाजी, राग द्वेष आदि मलों के निवारण से मन की आन्तरिक शुद्धि
25. किसी के साथ द्रोह न करना

26. अपनी कुशलता, उपलब्धियाँ तथा योग्यता के ऊपर अधिक अभिमान न करना।

इन सब दैवी गुणों की अभिवृद्धि साधक को मोक्षमार्ग पर पहुँचायेगी। इन सब दैवी संपदाओं को प्राप्त करने के लिये स्वयं विशेष प्रयत्न करना ही पडेगा परन्तु इस प्रक्रिया की पूर्णता भगवान की दया से ही संपन्न होती है।

दंभयुक्त जीवन, गर्व या अभिमान, धन-मान की नशा में रहना, परुष आचरण तथा अज्ञान (अर्थात् सही गलत का विवेकराहित्य) आसुरी गुण हैं। ऐसे भौतिकवादी लोगों, जो सैकड़ों आशा-पाशों से बन्धे हुए हैं, का विश्वास है कि जगत् असत्य और ईश्वर रहित है। विश्व की विभिन्नता तथा विविधता के अधिष्ठानभूत एकात्मभाव का तत्त्व तथा एकरसता से अनभिज्ञ होने के कारण ही, ये लोग भोग और ऐश्वर्य की कामनाओं में डूबे रहते हैं। ऐसे आसुरी गुणवाले लोग पवित्रता या शिष्ट आचरण पर विश्वास नहीं रखते। वे अपनी अपनी कामनाओं की पूर्ति में ही व्यस्त और अपरिमित तथा अनन्त चिन्ताओं से व्याकुल रहते हैं। विषय-सुखों के भोग में ही अपने जीवन की सार्थकता ससझते हैं। इन भोगों को भोगने के लिये अन्याय और कपटता पूर्वक धन संग्रह करते हैं। ये मायाजाल में फँसे रहते हुए, काम क्रोध तथा लोभ (इन तीन प्रकार) के नरक-द्वार से असंतुप्त इच्छाओं के असंख्य नरकों में प्रवेश करते हैं। वे शत्रुओं के मारे जाने पर बहुत खुश होते हैं और सानन्द घोषित करते हैं “मैं धनाढ्य हूँ, कुलीन हूँ, दान-शील हूँ, मेरी बराबरी करनेवाला कोई नहीं। मैं तो मौज करता हूँ।” अपनी धन-दौलत तथा उच्च पद पर गर्व करते हुए ये लोग दंभ से शास्त्रविधियों का पालन किये बिना केवल नाम कमाने के लिये यज्ञ तथा यज्ञरूपी कार्यों का अनुष्ठान करते हैं। ये इतर लोगों से स्वभाव से असूया करते हैं और मानव तथा अवतारों के दिव्य भाव को पहचानने से इनकार कर देते हैं। ऐसे क्रूर नराधमों को भगवान बारम्बार बाघ, सिंह आदि आसुरी योनियों में ही डालते हैं और वे आध्यात्मिक उन्नति से वञ्चित रह जाते हैं।

जो स्वर्ग-नरक को आना-जाना है ये सब हमारे चैतन्य के विविध स्तरों में मन की ही कल्पना है। ऐसे आसुरी वृत्तिवाले जनों के जागने में बहुत समय लग जायेगा। काम, क्रोध तथा लोभ नरक के तीन द्वार हैं जो आत्मघातक हैं और साधक को इनसे बचकर रहना चाहिये।

“त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।

कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥” (16-21)

जो इन आसुरी प्रवृत्तियों से संघर्ष कर उनसे विमुक्त हो जाते हैं वे परमगति की प्राप्ति के योग्य बन जाते हैं।

भगवान् श्री कृष्ण आधुनिक मानव के लिये एक आवश्यक तथा मुख्य चेतावनी देते हुए इस अध्याय का उपसंहार करते हैं :-

आजकल कई आधुनिक आचार्य लोगों का आविर्भाव है जो धन और नाम कमाने के उद्देश्य से परम्परागत आध्यात्मिक साधना की शास्त्रसंमत विधियों को या तो तोड़-मरोड़ कर देते हैं या उनकी पूर्ण उपेक्षा करते हुए अपनी ही नयी गतिविधियों का आविष्कार कर लेते हैं। अधिकांश साधक ऐसी नयी साधनाओं की गतिविधियों से मोहित होकर ऐसी गलियों में लिये जाते हैं जहाँ से बाहर निकलने का मार्ग ही न हो और धनशोषण के शिकार बन जाते हैं। श्रीकृष्ण चेतावनी देते हैं कि ऐसे साधक जो ज्ञानी-ऋषियों की तीव्र तपस्या तथा अपार भक्ति के फल स्वरूप आर्जित और परम्परागत उत्तराधिकार से संप्राप्त कई महर्षियों के अनुभव-सिद्ध शास्त्र-विधियों की उपेक्षा करते हैं, उनको आनन्द की प्राप्ति नहीं होगी, न तो वे अपने परम लक्ष्य पर पहुँचेंगे॥

“यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते काम कारतः।

न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥” (16-23)

## अध्याय-17

### हाय, तुम श्रद्धारहित लोग

इस अध्याय में साधकों के लिये गीता की एक ऐसी अनोखी देन है जो किसी शास्त्र में नहीं मिल सकती। कई साधक लोग मोह में पड़कर अपनी साधना से सन्तुष्ट रहते हैं कि हम तपस्या कर रहे हैं, दान दे रहे हैं, खान-पान में नियमित हैं जिससे कि हमारी अन्तःकरण की शुद्धि हो गयी है। श्री कृष्णने यहाँ सत्व, रज आदि जो तीन गुण, जो प्रत्येक मनुष्य के मानसिक संगठन में विविध अनुपातों में संमिलित होकर स्वभावों का निर्माण करते हैं, उनके स्तरों के आधार पर तपस्या, दान आदि विविध साधनों को भी तीन प्रकारों में वर्गीकरण किया है। ब्रह्मचर्य, तपस्या, अन्तःकरण शुद्धि, मन की प्रसन्नता और मौन ये सब भी निष्फल तामसिक वर्ग के हो सकते हैं या सात्विक या राजसिक।

साधक के लिये अत्यावश्यक अन्तरङ्ग साधन है श्रद्धा यानी शास्त्र तथा गुरु के उपदेशों में अटूट विश्वास। ऐसा विश्वास हो जो पर्वतों को भी हिला सके।

जिन साधकों की श्रद्धा तामसी है वे भूत-प्रेत की आराधना करते हैं। जिनकी यक्ष-राक्षस पर श्रद्धा हो, वे राजस हैं। जो सत्वगुण में निष्ठित हैं वे श्रेष्ठ हैं और मन्त्रशास्त्र, पुराण, स्मृति आदि शास्त्रों के संमत देवताओं की आराधना करते हैं। जो लोग शास्त्रविरुद्ध घोर तप तपते हैं और अपने शरीर तथा शरीर में स्थित जीवरूप भगवान् को अपार कष्ट तथा दुःख पहुँचाते हैं, वे आसुरी वृत्ति के हैं और भगवान् को कभी पहुँच नहीं पायेंगे।



तपस्या भी अधिष्ठान भेद से तीन प्रकार विभाजित की जाती है - शारीरिक, वाचिक और मानसिक :

### 1. शारीरिक तपस्या

देवपूजा, ब्राह्मण तथा विद्वानों की पूजा और गुरुपूजा शारीरिक तपस्या मानी जाती है। इन की कृपा के बिना कोई प्रयत्न सफल नहीं हो सकता।

### 2. वाचिक (वाणी की) तपस्या

ऐसी वाणी का प्रयोग करें जो दूसरों के मन में उद्वेग न उत्पन्न करें, जिसमें व्यंग्य-वक्रोक्ति (ताना मारना) न हो, सत्य के ऊपर आधारित हो, और हितकारक हो। इसे तथा स्वाध्याय (वेद शास्त्रों का मनन) के अभ्यास को वाचिक तपस्या कही जाती है।

“अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।  
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥” (17-15)

### 3. मानसिक तपस्या

समग्र विपरीत परिस्थितियों में भी मन को प्रसन्न रखना, सौहार्द, विचारशून्य आन्तरिक मौन, बाहरी विषयों में दौड़ने से मन को रोक रखना, मन को शुद्ध रखना (अर्थात् छल-कपट, धोखेबाजी, कुटिलता आदि का त्याग कर देना) - यह सब मानसिक तपस्या है।

“मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।  
भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते॥” (17-16)

उपर्युक्त तीनों तप भी गुण के आधार पर सात्विक, राजसिक तामसिक तीन प्रकार से पुनः विभाजित किये जाते हैं।

1. परम श्रद्धा, भक्ति समन्वित, निष्काम भाव से, भगवान को समर्पण कर जो तपस्या की जाती है वह सात्विक तपस्या है।

2. जो तपस्या, सत्कार, मान, पूजा और दंभ के लिये, या अन्य लोगों को प्रभावित कर अपनी मानप्रतिष्ठा बढ़ाने के लिये की जाती है, वह राजस है तथा उसका फल भी तात्कालिक होता है।

3. मूढ़ आग्रह के साथ, विवेकरहित अपने आपको पीडा पहुँचाकर जो तप करें अथवा दूसरों का अनिष्ट करने के लिये जो तप करें यह सब तामसिक हैं। रावण और हिरण्यकशिपु ने भी घोर तपस्या की थी परन्तु उनका उद्देश्य रहा जगत् का नाश। इस तरह की निचले स्तर की तपस्या जो दूसरे लोगों का अनिष्ट करने के लिये की जाती है वह भी तामसिक ही है।

साधना में आहार की भी मुख्यता है। भोजन में केवल नियमितता ही पर्याप्त नहीं है। यदि आध्यात्मिक क्षेत्र में उन्नति करना चाहते हैं तो आहार सात्विक होना चाहिये। जैसा अन्न वैसा मन।

सात्विक भोजन वही है जो पुष्टिकर, स्वास्थ्यवर्धक, स्वादिष्ट, रुचिकर और प्रीतिदायक हो, जो मन तथा शरीर दोनों के लिये हितकर हो और जो मन की स्थिरता, बल और आरोग्य का वर्धक हो। उदाहरण के तौरपर प्याज़ तथा लहसून यद्यपि शरीर के स्वास्थ्य के लिये लाभदायक समझे जाते हैं, कामवर्धक स्वभाव के कारण मन को विचलित करेंगे तथा काम को बढ़ाएँगे। जो तीव्र साधक हैं उनके लिये ये वर्जित हैं।

जो आहार अत्यधिक कड़वे, खट्टे, नमकीन, बहुत गरम, तीखे, रूखे, पेट में जलन पैदा करनेवाले हैं वे सब राजसिक हैं। इसका मतलब है कि जो आहार अत्यधिक मात्रा से कड़वे, खट्टे आदि होते हैं उनसे दूर रहना चाहिये और स्वादों में भी (रसों में भी) नियमितता आवश्यक है।

जो आहार बहुत देर का रखा हुआ हो, रस हीन, दुर्गन्धयुक्त, बाँसी, जूँटा और अशुद्ध हो वह तामसिक है। (तीव्र साधक को अचार नहीं खाना चाहिये क्योंकि वह कई दिनों से रखा गया होता है और अधिक खट्टा या तीखा होता है।)

इसी तरह, दान भी तीन प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है:-

1. सात्विक दान:- जो दान उपयुक्त देश, काल, पात्र में (अर्थात् काशि आदि क्षेत्रों में तथा रामनवमी, क्रिसमस आदि पर्वकाल में और योग्य पात्र में) बिना किसी के प्रत्युपकार के रूप में दिया जाता है वह सात्विक है।

2. जो दान मन-क्लेश के साथ प्रत्युपकार पाने के भाव से या फल के उद्देश्य से दिया जाता है वह राजसिक है।
3. जो दान, देश काल पात्र की योग्यता को देखे बिना और तिरस्कार या निरादर के भाव से दिया जाता है वह तामसिक है। ऐसा दान निष्फल हो जाता है।

इस अध्याय के अवसान में भगवान् श्रीकृष्ण एक ऐसा सुन्दर मन्त्र देते हैं जिस के अर्थ को पूर्णतया समझते हुए दुहराया जाय या ध्यान किया जाय तब हमें यह अभ्यास अपने लक्ष्य में पहुँचा देगा। वह मन्त्र है “ओं तत्सत्”। इस मन्त्र का अर्थ निम्नलिखित है –

**ओम् :-** परब्रह्म परमात्मा का तथा सगुण साकार ईश्वर का निकटतम व्यञ्जक (द्योतक) प्रतीक है। समस्त विश्व भी इसके अन्तर्गत है।

**तत् :-** यह वह सनातन परमात्मा है जो अपनी सृष्टि से असंग और निर्लिप्त रहता है जैसे सपने का द्रष्टा सपने की जगत् से पृथक् रहता है।

**सत् :-** इसके चार अर्थ हैं। मुख्यतः यह वह परमात्मा है जो शुद्ध सत्तापन (अस्तित्व मात्र) है। मन की अच्छी अच्छी वृत्तियों को भी सत् कहा जाता है। प्रशस्त कर्म क्रिया को भी सत् कर्म कहते हैं। यज्ञ तप और दान में जो स्थिति है इसको भी सत् कहते हैं।

सत् जो है, वेद के तत्त्वमसि महा वाक्य के सत्य के साक्षात्कार की योग्यता सिद्धि के लिये “त्वं” (अर्थात् साधक) पदार्थ की शुद्धि का मार्ग दिखानेवाला है।

ओं जो है तत् (ईश्वर) के साक्षात्कार के लिये किये जानेवाले तप आदि साधनारूप कार्य कलापों की शुद्धि करता है।

भगवान् नित्य अपरोक्ष हैं और हमारे आत्मरूप हैं। इन की अपरोक्षरूप से ही अनुभूति करना पडता है क्योंकि यह इन्द्रिय मन और बुद्धि के गोचर नहीं है। हमारी साधना ‘शब्द प्रमाण’ वेदों की प्रामाणिकता मात्र पर आधारित होती है। हमारी सारी साधनायें श्रद्धा और विश्वास के आधार पर प्रारम्भ होती हैं और साक्षात् अनुभव में समाप्त होती हैं। तपस्या, दान आदि कोई कर्म अगर श्रद्धाविरहित किया जाय तो वह

निष्फल या व्यर्थ हो जाता है और इस लोक या परलोक में भी इस कर्म का कोई प्रयोजन नहीं है।

“अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।  
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥” (17-28)

यद्यपि कोई साधक वेद और शास्त्रों में निपुण न हो तब भी अपने सारे कार्य कलापों में तथा भोजन में सत्वगुण की अभिव्यक्ति करने से तथा “ओं तत्सत्” मन्त्र का जप करते हुए उसके अर्थ पर अनवरत मनन और ध्यान करने से ही मोक्ष को पा सकता है।

नवे अध्याय का मुख्य उपदेश था कि अपने समस्त कर्मों को भगवान् को अर्पित करके शरणागत हो जाँ। इस सत्रहवें अध्याय में इस बात पर जोर दिया गया है कि जिस किसी कर्म का ईश्वरार्पण हो वह सात्विक हो। क्योंकि केवल सात्विक कर्म अर्पण करने योग्य बनते हैं।



## भगवन, मेरी डोरी तेरे हाथ

यह अध्याय समस्त भगवद्गीता के संदेश का एक सुंदर सारांश है। साधारण लोग इस प्रकार सोचते होंगे कि कर्मयोग आध्यात्मिक मार्ग में जाने की तैयारी करने में अवश्य काम आता हो परन्तु आखिरी स्थिति जिसमें पहुँचना है, वह समस्त कर्मों का त्याग है। अर्थात् संन्यास। यह अभिप्राय अधिकांश साधकों के लिए तो सही नहीं है। श्रीकृष्ण संन्यास और त्याग इन दोनों का पृथक्-पृथक् विवेचन करते हुए इस अध्याय का प्रारम्भ करते हैं।

सारे काम्य कर्मों के त्याग के लिए संन्यास एक उपाय है। इसमें मन सकाम कर्मों की ओर बहना बन्द कर देता है। मन कर्तव्याकर्तव्य के विवेक के आधार पर काम करने लगता है।

त्याग एक और स्थिति है जिसमें निष्काम कर्म के परिणाम-स्वरूप फलों को भी परमेश्वर को समर्पण किया जाता है। यह समझना ठीक नहीं है कि समस्त कर्म का त्याग होना चाहिए क्योंकि समस्त कर्म कर्ता को बन्धन में डालनेवाले हैं। भगवान् श्रीकृष्ण स्थिर रूप से घोषित करते हैं कि यज्ञ, दान और तपस्या-इन कर्मों का त्याग कभी नहीं होना चाहिए।

“यज्ञ दान तपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्,  
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥” (18-5)

आलस्य के कारण अथवा परिश्रम से बचने के लिए नित्य कर्तव्य कर्मों के त्याग से कोई प्रयोजन नहीं है। नित्य कर्मों को कर्तव्य के रूप में आसक्ति रहित तथा फलों की उपेक्षा के साथ करना ही वास्तविक त्याग है और वह सात्विक भी है। साधक सात्विक त्याग करता है। अपने कर्तव्यों से न द्वेष करता है न तो उनमें आसक्त हो

जाता है। एक साधारण व्यक्ति के लिए जो अपने शरीर को ही आत्मा समझ कर बैठा रहता है समस्त कर्मों का त्याग करना असंभव है। उसे प्रारम्भ में वर्णित कर्मयोग प्रक्रिया को ही अपनाना पड़ेगा। यह स्थिति, उन विवेक बुद्धिवालों के लिये लागू नहीं होती, जो स्थितप्रज्ञ की अवस्था पर पहुँचने के बाद सारे कर्मों का त्याग करते हुए संन्यास योग्य बन जाते हैं। (रामानुज के मत में संन्यास लेने पर भी दैनिक नित्यकर्मों को नहीं छोड़ सकते) भगवान् श्रीकृष्ण साधकों को दो प्रकारका विभाजन करते हैं:-

1. जिनका मन अभी शुद्ध नहीं हुआ है (वासनाक्षय नहीं हो पाया), जो स्थितप्रज्ञ होकर आत्मज्ञान के अधिकारी नहीं बने, उनको कर्मयोग में ही लगे रहना पड़ेगा (अर्थात् फलासक्ति को त्याग करके)
2. जो कर्मयोग के परिणामस्वरूप स्थितप्रज्ञ अवस्था पर पहुँच गये हैं ये सारे कर्मों का त्याग करके संन्यास लेने योग्य हैं। पर जब जीवन्मुक्त हो जाते हैं तब समस्त प्राणियों के हितकारी कर्मों में लग जाते हैं “सर्वभूत हिते रताः”।

साधक जो भी कर्म तन से वाणीसे या मन से करे (अच्छा या बुरा कर्म हो) उसकी सिद्धि के लिये पाँच कारण होते हैं:-

- (1) स्थूल शरीर (2) कर्ता (3) सारे इन्द्रिय (4) पञ्च प्राणों की चेष्टाएँ (5) दैवी इच्छा जो हमारे पूर्व जन्मों में अर्जित कर्मफलों से सम्बन्धित है। एक कार्य की सिद्धि इन पाँच कारणों पर निर्भर होती है। अकर्ता अर्थात् “मैं इस कार्य का कर्ता नहीं हूँ” भाव से यदि काम किया जाय तो हम किसी कर्मबन्धन में नहीं फँसेंगे।

कर्म के स्वभाव के अतिरिक्त कर्ता तथा उसका कर्म संबन्धी ज्ञान भी मुख्य कारण है। ये जो तीन कारण कर्म, कर्ता, ज्ञान हैं इन में से एक एक कारण भी अपने अपने गुणाधिक्य के आधारपर तीन तीन प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है। कर्म, कर्ता आदि तीनों कारण यदि सात्विक प्रकार के हों तभी तो साधक साधनारूपी कर्मों से आध्यात्मिक लक्ष्य की ओर अग्रसर हो सकता है।

**सात्विक कर्म** : वे वर्णाश्रमानुसार वेदविहित नित्य कर्म हैं जो आसक्ति रहित और फल की आकांक्षा के बिना किये जाते हैं।

**सात्विक कर्ता :** वह है जो अभिमानरहित, आसक्तिरहित, जय-पराजय की उपेक्षा करता हुआ धृति तथा उत्साह से भरा हुआ होता है।

“मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।

सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्विक उच्यते। (18-26)

सात्विक कर्ता के लक्षण में उल्लिखित धृति भी गुणों के आधार पर तीन प्रकार की हो सकती है।

मन, प्राण, इन्द्रियों की क्रियाओं को शास्त्र-निषिद्ध विषयों की ओर दौड़ने से रोक कर, अव्यभिचारिणी बुद्धि से दृढ़ता तथा एकाग्रता के साथ धारण करें तो वही है सात्विक धृति।

साधक को उस सात्विक सुख में ही रमण करना चाहिये जो कर्तव्यों का अभ्यासजन्य हो और जो प्रारम्भ में कटु लगने पर भी, अन्त में ज्ञान की परिपक्वता, निःसंगता तथा अन्तःकरणशुद्धि आदि के फलस्वरूप अमृतोपम सुख की प्राप्ति कराये।

इस जगत् में ऐसे किसी भी व्यक्ति का जन्म हो ही न सकता जिसके अन्दर सत्व, रज आदि तीनों गुण न हो। सामूहिक हित के कार्यों को विभाजित करने के लिये तथा अपने जन्म से प्राप्त गुणों पर आधारित अपने अपने मानसिक तथा आध्यात्मिक संगठन के अनुसार आध्यात्मिक पथ पर उन्नति पाने की सुविधा के लिये चातुर्वर्ण्य का विधान हुआ है। इस आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चार वर्णों के कर्तव्य विभाजित किये गये हैं और उनको उस उस वर्ण का “स्वधर्म” कहा गया है।

यह कहीं नहीं कहा गया है कि एक वर्ण अन्य वर्ण की अपेक्षा श्रेष्ठतर है या निम्नतर है। हर एक वर्ण के कर्तव्य ऐसे विहित हैं ताकि बाकी सारे वर्णों को भी उस से साहाय्य मिले। उदाहरण के रूप में एक कारखाने के अनुसन्धान विभाग के कार्यों से समस्त कारखाने को तथा दूसरे विभागों को भी सहायता मिलनी है। इसी तरह यह वर्णविभाग भी है। शरीर के विविध अङ्ग दूसरे अङ्गों को भी सबल करते हुए विविध कार्यों में लगे रहते हैं और समस्त शरीर की पुष्टि तथा वृद्धि के काम आते हैं। उसकी यह कल्पना करना कि एक अंग दूसरे अंग से निम्नतर है निराधार है। श्रीमद्भागवत में दो उदाहरण देखने में आते हैं (1) जहाँ एक राजपुत्र (जो क्षत्रिय था) वैश्यों की वृत्तियों

को अपनाते हुए वैश्य बन गया था। - “कर्मणा वैश्यतां गतः” और (2) जहाँ ऋषभदेव के पुत्रों में (सब क्षत्रिय) दो पुत्रों ने अपने कर्मों से ब्राह्मणत्व को प्राप्त किया।

अपने अपने स्वधर्म का पालन करना ही आध्यात्मिक प्रगति का एक साधन है। अपनी दृष्टि से जितना भी दोषयुक्त अपने स्वधर्म को समझें और जितना भी आकर्षक दूसरे वर्णों का स्वधर्म दिखाई पड़े तब भी अपने धर्मपर निष्ठित होना आवश्यक है। सारे कर्म गुणों पर आधारित होने के कारण दोषयुक्त ही हैं। अपने अपने धर्मों में निरत होकर कर्मयोग की प्रक्रिया अपनाने से साधक लोग सिद्धि पा सकते हैं।

“स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः॥” (18-45)

कर्मयोग द्वारा शुद्धान्तःकरण जब हो जाता है तब अपने मन-इन्द्रियों के ऊपर विजय पाकर निःसंज्ञत्व तथा निस्पृहता प्राप्त करके, साधक समस्त कर्मों का त्याग करके सन्यास स्वीकार कर सकता है। उसे अन्ततो गत्वा परम नैष्कर्म्यसिद्धि की प्राप्ति होती है। कर्मयोग पूर्वावस्था है, सन्यास उत्तरावस्था है। पहले अपने अपने स्वधर्म का पालन करते हुए कर्मयोग से अन्तःकरण की शुद्धि पाकर जब स्थितप्रज्ञ की स्थिति में आ जायें तो वहाँ से पूर्व निर्दिष्ट परम नैष्कर्म्य सिद्धि पर पहुँचना सरल है।

श्रीकृष्ण परमज्ञान की प्राप्ति तथा ब्रह्म साक्षात्कार के लिये उपयुक्त निम्नलिखित साधनाओं का संक्षिप्त रूप से उल्लेख करते हैं:-

1. राग-द्वेष को मन से निकालकर समस्त आकर्षक सांसारिक विषयों से (जैसे सुन्दर रूप, सुस्वादु भोज्य पदार्थ) अपने मन को हटाकर, धृति के साथ अपने आप को नियन्त्रित कर लो।
2. जितना संभव हो, एकान्त स्थान में समय बिताने का अभ्यास डालो।
3. भोजन नियमित हो - अर्थात् भोजन भारी न हो और सात्विक हो।
4. अपने शरीर, मन, वाणी से संयत रहो, स्वच्छंदाचारी मत बनो। लौकिक वार्तालाप (गपशप), लोक व्यवहार और अपने गृह, पत्नी, धन, नाम, कीर्ति आदि सांसारिक विषयों पर चिन्ता करना, इन सब का परित्याग कर लो।



5. नियम से, नित्य भगवान का ध्यान जितना अधिकाधिक समय तक हो सके, करो और क्रमशः उस समय को बढ़ाते जाओ।
6. किसी विषय को पाने की इच्छा या उत्कंठा मत रखो।
7. अहंकार, अभिमान, दर्प, काम, क्रोध, संग्रह (अपने देहात्मभाव तक) सब का त्याग कर दो। अहंकार तो तभी जायगा जब अपने कर्ताभाव तथा भोक्ताभाव तुम त्याग करोगे।
8. किसी व्यक्ति या वस्तुपर ममता (मेरापन) अर्थात् स्वत्व का भाव न रखो। हम सब जनमते समय रिक्तहस्तों से आये हैं और दुनियाँसे चलते समय भी एक कौड़ी तक साथ नहीं जायेगी। सारी वस्तुएँ प्रकृति से ही हमें मिली हैं और सब ईश्वर के हैं।
9. तुम्हारा मन हमेशा शान्तियुक्त रहे और किसी भी घटना से विचलित न होवे।
10. अतीत (बीते हुए) विषयों पर सोचकर पश्चात्ताप न करो, न तो भविष्य की चिन्ता करो। सदा सर्वदा संतुष्ट और आनन्द-निमग्न रहो।
11. सारे प्राणियों के साथ समत्व भाव से व्यवहार करो।

यदि कोई साधक उपर्युक्त साधनाओं का अभ्यास अनवरत कर ले तो उसे परमात्मा की भक्ति प्राप्त होती है और ब्रह्मपद पहुँचने की योग्यता मिल जाती है जो आनन्द की पराकाष्ठा है।

अत्यन्त भक्ति द्वारा भगवान के पूर्ण ज्ञान का उदय साधक के हृदय में हो जाता है और अक्षर परब्रह्म में उसका विलय हो जाता है (तादात्म्य भाव से)। इस तरह भक्तियोग भी ज्ञानमार्ग में ले जाकर मिला देता है ताकि साधक को अपने परम लक्ष्य की प्राप्ति हो जाय।

इसी प्रकार जो साधक परमेश्वर के ऊपर पूर्ण रूप से आश्रित होकर, समस्त लौकिक घटनाओं को भगवदिच्छा से प्रेरित मानकर, उन सबको सहर्ष स्वीकार करते हुए, नवमाँ अध्याय के 27 वाँ श्लोक में वर्णित प्रकार से अपने समस्त कर्मों को भगवान के पदार्पण करते हुए, अपने मनको अव्यभिचारिणी रीति से सदा सर्वदा उस परमात्मा

पर ही स्थिर कर लेता है, वह भगवान की अपार दया के द्वारा उस अक्षर परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।

किसी साधक के लिये यह बिलकुल असंभव है कि वह किसी साधना में सफलता प्राप्त करे जबतक अपनी अपरिमित भक्ति तथा शरणागतिद्वारा भगवान की अपार दया की वर्षा को अपने ऊपर आकर्षित न कर दे। ईश्वर ही तो हर एक साधक, हर एक प्राणी के हृदय-स्थित होकर सब के कर्मों का नियमन कर रहे हैं जैसे कोई यन्त्र में स्थित कठपुतली को घुमाता हो।

“ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।  
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥” (18-61)

समस्त कर्मों का त्याग करते हुए ईश्वर के पास अनन्याश्रय होकर पूर्णरूप से शरणागत हो जाओ। एकाग्रचित्त के साथ भगवान की भक्ति करो और सारे कर्मों को आहुति के रूप में समर्पण कर लो। विनम्र भाव से भगवान को नमस्कार करो। तुम्हें अपने प्रियतम की प्राप्ति हो जायेगी।

“मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।  
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥” (18-65)

“सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज।  
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥” (18-66)

उपर्युद्धरित 66वाँ श्लोक रामानुज के संप्रदाय के परवर्ती अनुयायी लोगों से, सिद्धिप्राप्ति के तीन रहस्योपायों में (“रहस्यत्रयं”) एक माना जाता है। इतने सरल उपाय को गीता के उपसंहार में कहने का एक मुख्य तात्पर्य इसके अन्तर्गत है। वह यह है कि साधक को पूर्वाध्यायों में कथित विविध साधनाओं को पार करते हुए अनन्य तथा एकाग्र भक्ति की प्राप्ति होने पर, स्थितप्रज्ञ की स्थितिपर पहुँचने के बाद ही यह सर्वधर्मों का त्याग तथा शरणागति का अन्तिम सोपान है। नहीं तो, यह पूर्ण और आत्यन्तिक शरणागति पहले की अपक्व स्थितिमें करना ही असंभव है।

इस संबन्ध में आदिशंकर एक मुख्य प्रश्न उठाते हैं कि “इस गीता शास्त्र में ज्ञान को ही मोक्ष पाने का परम उपाय स्थापित किया गया है, या कर्मयोग को या दोनों को?”

आचार्य शंकर का निर्णय है:-

“जीवन का परम श्रेय (मोक्ष) केवल कर्मों से कदापि प्राप्त नहीं हो सकता, न तो ज्ञान और कर्मयोग के समुच्चय से हो सकता। “ज्ञानादेव कैवल्यं”—अर्थात् केवल ज्ञान ही मोक्षरूपी परम लक्ष्य को प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है।”

हाँ, यह ज़रूरी है कि अधिकतम साधक लोग कर्मयोग से ही अपनी साधना का प्रारम्भ करें ताकि अन्तःकरण की शुद्धि प्राप्त हो जाये। अधिकांश साधारण साधक लोग जब तक स्थितप्रज्ञ की स्थिति पर प्रतिष्ठित न हो जायें तब तक केवल कर्मयोग के ही अधिकारी बनते हैं।

बगैर किसी शर्त की, अनन्यभाव से भगवान के चरणकमलोंपर शरणागत हो जाना कोई बायें हाथ का खेल नहीं है। उस उच्च स्थितिपर पहुँचने के लिये अपार साधना की आवश्यकता है।

भगवद्गीता में वर्णित तत्त्वों पर पूर्ण श्रद्धा समन्वित अपार धारणा-ध्यान योग में निमग्न होकर, समस्त दैवी गुणों को अपनाकर भक्ति करें तो हम सब भगवान की दया के पात्र ज़रूर बनेंगे, जो हमें परमानन्द के लक्ष्य की उपलब्धितक पहुँचायेगी।

“हरिः ॐ”॥